मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 90 ● वर्ष 10, अंक 9 ● नवम्बर 2020 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

कश्मीर में जारी दमन, फ़र्ज़ी मुक़दमे और भारतीय राज्यसत्ता का जनता पर कसता शिकंजा! 11

भारत में भूख से जूझता मेहनतकश और प्रधानमंत्री की अय्याशियाँ 5 व 7

उत्तर प्रदेश में बिजली के निजीकरण पर आमादा सरकार 16

बिहार विधानसभा चुनाव-2020

चुनावी रणनीति तक सीमित रहकर फ़ासीवाद को हराया नहीं जा सकता!

पूँजीवादी और संशोधनवादी चुनावबाज़ पार्टियों का गठबन्धन मेहनतकशों-मज़दूरों के पक्ष की नुमाइन्दगी नहीं कर सकता!

चुनावी क्षेत्र में भी मज़दूर वर्ग के स्वतंत्र क्रान्तिकारी राजनीतिक पक्ष के बिना, फ़ासीवाद से निपटा नहीं जा सकता!

सम्पादक की ओर से

बिहार विधानसभा चुनावों में भाजपा-नीत राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन जीत गया है। महागठबन्धन बहुमत से क़रीब 12 सीटें दूर रह गया। चुनावों में सबसे ज़्यादा फ़ायदा फ़ासीवादी भाजपा को हुआ है। जबकि सबसे ज़्यादा नुक़सान भाजपा की ही सहयोगी नीतीश कुमार की जनता दल (यू) को हुआ, जो कि भाजपा और लोजपा के चिराग पासवान की मेहरबानी से ही हुआ। भाजपा सबसे बड़ी पार्टी बनते-बनते रह गयी और राष्ट्रीय जनता दल एक सीट के अन्तर से अभी भी सबसे बड़ी पार्टी है। लेकिन कांग्रेस को पिछली बार की तुलना में 8 सीटों का नुक़सान उठाना पड़ा। वहीं संशोधनवादी पार्टियों विशेषकर माकपा, भाकपा और भाकपा (माले) लिबरेशन को इन चुनावों में काफ़ी फ़ायदा पहुँचा है। वजह यह रही कि इस बार उन्हें अपने पारम्परिक दलित मेहनतकश वोट के अलावा, राजद का वोट बैंक भी महागठबन्धन का अंग होने के कारण मिला। इनमें भी ख़ास तौर पर भाकपा (माले) लिबरेशन को सबसे अधिक फ़ायदा पहुँचा है। ज़ाहिर है, इसके कारण चुनावों में महागठबन्धन की हार के बावजूद, भाकपा (माले) लिबरेशन के कार्यकर्ताओं में काफ़ी ख़ुशी का माहौल है, मानो फ़ासीवाद को फ़तह कर लिया गया हो!

इन नतीजों का बिहार के मेहनतकश व मज़दूर वर्ग के लिए क्या महत्व है? यह समझना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना भविष्य की भी कोई योजना व रणनीति नहीं बनायी जा सकती है।

पहला सवाल यह है कि भयंकर आर्थिक तबाही, कोरोना संकट व लॉकडाउन के विनाशकारी प्रभावों, विकराल बेरोज़गारी और महँगाई के बावजूद भाजपा को वोटरों के ग़ुस्से का सामना उस हद तक क्यों नहीं करना पड़ा जिसकी तमाम प्रेक्षक अपेक्षा कर रहे थे? यह बात समझने के लिए यह समझना ज़रूरी है कि भाजपा एक फ़ासीवादी पार्टी है, और इसकी तुलना किसी भी अन्य पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टी से नहीं की जा सकती है। भाजपा अपनी सीटें बढ़ाने में और अपने प्रति नाराज़गी की लहर से बच पाने में कामयाब रही, तो इसकी प्रमुख वजहें हैं कि उसके पास एक काडर-आधारित संगठन है, दूसरा, उसके पीछे एक संगठित प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है और तीसरा यह कि उसके पास इस समय भारत के पूँजीपति वर्ग का एकमत समर्थन है। ईवीएम फ्रॉड, वोटों की गिनती में हेराफ़ेरी करवाना, तमाम नकारात्मकों के लिए नीतीश कुमार को ज़िम्मेदार ठहराने में कामयाब होना, आदि गौण कारक हैं, जो बेशक मौजूद हैं, लेकिन वे निर्णायक कारक नहीं हैं और वास्तव में प्रमुख कारक का ही एक लक्षण हैं।

हम इस सवाल पर आगे आयेंगे कि ऐसी फ़ासीवादी पार्टी और उसके पीछे मौजूद प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन को केवल चुनावी रास्ते से हराया नहीं जा सकता है। अगर भाजपा-नीत राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन यह चुनाव हार भी गया होता तो इसे फ़ासीवाद की पराजय समझने की मूर्खता वही व्यक्ति कर सकता है जो कि भयंकर पस्तहिम्मती का शिकार होकर

(पेज 8 पर जारी)

“गुजरात मॉडल” पुराना पड़ने के साथ अब उससे भी बर्बर “यूपी मॉडल” खड़ा करने की कोशिश में योगी आदित्यनाथ

नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री बनाने के लिए अरबों रुपये ख़र्च करके जो मुहिम चलायी गयी थी, उसके केन्द्र में था “गुजरात मॉडल” का अन्धाधुन्ध प्रचार। अलग-अलग लोगों के लिए इसके अलग-अलग मायने थे। मीडिया तंत्र के मालिकों के पुरज़ोर समर्थन और आरएसएस व भाजपा के अपने प्रचार तंत्र के सहारे मोदी के शासन में गुजरात के चौतरफ़ा “विकास” का एक मिथक खड़ा किया। अब सभी जान चुके हैं कि यह विकास वैसा ही था जैसा विकास पूरा देश पिछले 6 साल से भुगत रहा है। लेकिन 2014 से पहले के कुछ वर्षों के दौरान धुआँधार प्रचार से एक बड़ी आबादी इसके झाँसे में आ गयी थी। लेकिन एक बहुत बड़ी आबादी के लिए गुजरात मॉडल का असली मतलब यह था कि वहाँ मोदी ने मुसलमानों को उनकी “औक़ात” बता दी है। 2002 के दंगों में हुए मुसलमानों के क़त्लेआम और उसके बाद जिस तरह से उन्हें दबाया और अपमानित किया गया, उसने इन लोगों को भरोसा दिलाया कि मोदी के प्रधानमंत्री बनने के बाद पूरे देश में ऐसा ही होगा। नफ़रत के नशे में अपनी समस्याओं के असली कारणों को भूलकर हर परेशानी का कारण मुसलमानों को मानने वाली यह जमात आरएसएस और भाजपा ने पिछले लम्बे समय के अपने ज़हरीले प्रचार से तैयार की थी। 2014 के चुनाव में गुजरात मॉडल के इन दोनों मायनों से प्रभावित लोगों का समर्थन भाजपा की जीत की बड़ी वजह बना।

अब उत्तर प्रदेश में योगी आदित्यनाथ उसी तर्ज पर “यूपी मॉडल” खड़ा करने में जुटे हुए हैं। एक ओर मुसलमानों को आतंकित करके दोयम दर्जे के नागरिक जैसी हैसियत बना देने का कोई मौक़ा उनकी सरकार नहीं छोड़ रही है, दूसरी ओर प्रदेश की हर तरह से ख़स्ता हालत के बावजूद विकास की गंगा बहाने के झूठे प्रचार पर अरबों रुपये बहाये जा रहे हैं। मोदी के गुजरात की ही तर्ज पर उत्तर प्रदेश में दलितों और औरतों पर अत्याचार और उनके विरुद्ध बर्बर अपराध रोज़मर्रा की बात हो गये हैं, बल्कि इस मामले में यूपी ने गुजरात ही नहीं, देश के सभी राज्यों को बहुत पीछे छोड़ दिया है। मज़दूरों और कर्मचारियों के दमन और किसी भी तरह प्रतिरोध की आवाज़ उठाने वालों के दमन-उत्पीड़न के मामले में

(पेज 7 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

शहीद अशफ़ाक़ उल्ला ख़ाँ के जन्मदिवस (22 अक्टूबर) पर

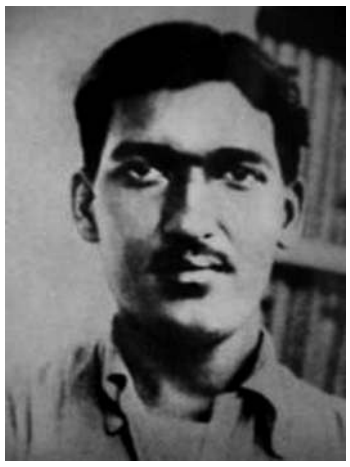

"सात करोड़ मुसलमानों को शुद्ध करना नामुमकिन है, और इसी तरह यह सोचना भी फ़िज़ूल है कि पच्चीस करोड़ हिन्दुओं से इस्लाम क़बूल करवाया जा सकता है। मगर हाँ, यह आसान है कि हम सब ग़ुलामी की ज़ंजीरें अपनी गर्दन में डाले रहें।"

बुज़दिलों को सदा मौत से डरते देखा।
गो कि सौ बार रोज़ ही उन्हें मरते देखा।।
मौत से वीर को हमने नहीं डरते देखा।
तख़्ता-ए-मौत पे भी खेल ही करते देखा।

– अशफ़ाक़ उल्ला ख़ाँ

आपस की बात

कहा जाता है कि भारत के संविधान में समानता की बात है। संविधान में अम्बानी से लेकर एक ग़रीब तक को समान अधिकार दिए हैं और न्यायपालिका इसका सबसे मज़बूत स्तंभ है।

दूसरी तरफ़ आज सुप्रीम कोर्ट ने अर्णब को ज़मानत दे दी और अति शीघ्र उसे रिहा करने को कहा है और ऐसे फ़ैसले आम तौर पर देती रहती है।...याद ही होगा कुछ समय पहले ही बाबरी विध्वंस के आरोपियों को बरी कर दिया, पर वहीं इस फ़ासीवादी सरकार के ख़िलाफ़ बोलने वालों पर सुनवाई तारीख़-दर-तारीख़ चलती रहती है, अभी तक सी.ए.ए व एन.आर.सी के ख़िलाफ़ बोलने वाले जेल में है और जिन्हें ज़मानत तक नहीं मिली है।

जेलों में भी ऐसे बहुतेरे लोग मिल जायेंगे, जो ज़मानत राशि न भर पाने के कारण या फिर छोटे-मोटे केसों में सालों सड़ते रहते है।

जैसे एक क़ैदी के बारे में पता चला कि उसने मात्र छः केले चुराये और इस ज़ुर्म में उसे गिरफ़्तार कर लिया गया और छः महीनों से वो जेल में है।

ऐसे अपने लिबरल भाई लोग किस मुँह से संविधान बचाओ की बात करते है। न्यायपालिका अगर एक-आध फ़ैसला सन्तुलन बनाये रखने के लिए 'पक्ष' में देती है, तो तुरन्त इनका भरोसा छलांग मारने लगता है। इन्हें अबतक न्यायपालिका का फ़ासिस्ट चरित्र नहीं दिख रहा है।

ऐसे में कोई अक़्ल का अन्धा या मानवद्रोही ही होगा जो इस व्यवस्था को बचाकर रखना चाहता हो।

– भारत, बवाना, दिल्ली

क्या आप मज़दूर बिगुल के रिपोर्टर बनेंगे?

क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों के जीवन, उनके काम के हालात, उनकी समस्याओं और संघर्षों के बारे में आप जैसे देश के करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों को और देश के आम नागरिकों को पता चले? क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों की ख़बरें जो हर मीडिया से ग़ायब रहती हैं, वे मज़दूरों के
अपने अख़बार के ज़रिये लोगों तक पहुँचें?

तो कलम उठाइए और अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव हमें भेजिए।

'मज़दूर बिगुल' आपका अपना अख़बार है। यह उन तमाम मेहनतकशों की आवाज़ है जिनकी बात इस देश के दर्जनों टीवी चैनलों और हज़ारों अख़बारों में कहीं सुनायी नहीं देती, मगर जिनकी मेहनत के बग़ैर यह देश एक दिन भी चल नहीं सकता।

आपको अगर टाइप करने में समस्या है तो काग़ज़ पर लिखकर उसकी फ़ोटो लेकर हमें व्हाट्सऐप पर भेज दीजिए। आप फ़ोन पर, व्हाट्सऐप पर या बिगुल के साथियों से मिलकर भी उन्हें जानकारियाँ दे सकते हैं। इसके बारे में कुछ भी जानने के लिए हमसे सम्पर्क करिए या अपने इलाक़े में 'मज़दूर बिगुल' बाँटने वाले साथियों से बात करिए।

आप इन तरीक़ों से अपनी बात हमारे तक पहुँचा सकते हैं :

डाक से भेजने का पता : **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

ईमेल से भेजने का पता : **bigulakhbar@gmail.com**

व्हाट्सऐप नम्बर : 9721481546

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **– लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

उत्तर प्रदेश के अम्बेडकरनगर ज़िले में बिजली के बिलों की धाँधली

जनदबाव से हरकत में आया प्रशासन

उत्तर प्रदेश की फ़ासीवादी योगी सरकार आम जनता की जेब काटकर अपने आक़ाओं की तिजोरियाँ भरने का एक भी मौक़ा छोड़ने को तैयार नहीं है। उत्तर प्रदेश के तमाम ज़िलों में ठेकेदार की लापरवाही के चलते बिजली के फ़र्ज़ी बिलों का बोझ लाद देने की घटनाएँ लगातार सामने आ रही हैं। पिछले दिनों प्रदेश के अम्बेडकरनगर ज़िले की आलापुर तहसील में सैकड़ों गाँवों में परिवारों को पचास हज़ार से एक लाख रुपये के फ़र्ज़ी बिल भेजे गये तथा एफ़आईआर और कनेक्शन काटने की धमकी देकर लोगों से ज़बरन वसूली करने की कोशिश की गयी। कई जगहों पर लोगों के कनेक्शन काटकर डिसकनेक्शन की पर्ची थमा दी गयी। जब भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी के कार्यकर्ताओं की ओर से इस मामले की जाँच-पड़ताल और सर्वे करना शुरू किया गया तो पूरा मामला सामने आया। बहुत से परिवारों को पुराने कनेक्शन को रद्द किए बग़ैर नया कनेक्शन दे दिया गया जिससे उनके परिवार में दो-दो बिल आने लगे। इतना ही नहीं, जल्दबाज़ी में मीटर लगाने के कारण मीटर रीडिंग में भी भयंकर गड़बड़ियाँ हुई जिससे बिल कई गुना बढ़कर आने लगा। यह सारा काम ठेकेदारों के माध्यम से कराया गया।

कई गाँवों में 4 वर्ष या उससे कम समय पहले ही मीटर लगाया गया था और विद्युत विभाग द्वारा कहा गया था कि ग़रीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन करने वाले परिवारों को निःशुल्क कनेक्शन दिया जायेगा तथा 1 वर्ष तक एक बल्ब जलाने का कोई भी शुल्क नहीं लगेगा। लेकिन अन्य विद्युत उपभोक्ताओं के साथ-साथ इन परिवारों का भी बिजली का बिल 10 हज़ार से 50 हज़ार और कई मामलों में 1 लाख रुपये से ऊपर भेजा गया था। कई लोगों के मीटर को किसी दूसरे के परिवार में लगा दिया गया था। लेकिन सबसे बड़ी समस्या मानक से अधिक विद्युत बिल की ही थी। इन गाँवों में अधिकतर लोग मज़दूर एवं ग़रीब किसान हैं जो किसी तरह मज़दूरी करके अपना जीवन-यापन करते हैं और छप्पर डालकर या झोपड़ी के मकान में रहते हैं, केवल एक ही बल्ब जलाते हैं व मोबाइल चार्ज करते हैं। इन लोगों का भी बिजली का बिल ग़लत तरीक़े से भेजा जा रहा था एवं जमा करने के लिए लगातार दबाव डाला जा रहा था। गाँव के लोगों के शिकायत करने पर भी विभाग द्वारा इस पर कोई सुनवाई नहीं की जा रही थी। साथ ही लोगों से विद्युत चार्ज के अलावा अन्य कई चार्ज भी लिये जा रहे थे।

इन मुद्दों को लेकर भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी के कार्यकर्ताओं ने कई गाँवों में पर्चा निकालकर अभियान की शुरुआत की तथा 3 जनवरी को स्थानीय अधिशासी अभियन्ता को तथा 5 मार्च 2020 को आलापुर के उपज़िलाधिकारी को ज्ञापन सौंपा गया था। लेकिन प्रशासन द्वारा केवल आश्वासन का झुनझुना थमा दिया गया। इसके बाद लॉकडाउन की वजह से लोगों के सामने संकट की स्थिति और गहरा गयी। ग़ौरतलब है कि पूँजीपतियों की चाकरी करने वाली मोदी सरकार ने लॉकडाउन के दौरान 50 पूँजीपति घरानों का 68,607 करोड़ रुपये का क़र्ज़ माफ़ किया था। लेकिन जब बात जनता के संकट का बोझ कम करने की आती है तो सरकार राजकोषीय घाटे का रोना रोने लग जाती है।

जुलाई महीने से ही लोगों से बिल जमा कराने के लिए दबाव बनाया जाने लगा था। भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी की ओर से जब इस मुद्दे पर संघर्ष की शुरुआत की गयी तो इलाक़े में बहुत सारे दलाल भी सक्रिय होकर लोगों से सम्पर्क करने लगे कि आप बिजली बिल का आधा दे दीजिए, हम आपका बिल कम करवा देंगे। लेकिन ग्रामीणों ने भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी के कार्यकर्ताओं के साथ खड़े होकर संघर्ष को आगे बढ़ाया। 2 महीने तक आसपास के लगभग 30 गाँवों में जनसम्पर्क कर लोगों से हस्ताक्षर करवाया गया तथा हज़ारों की संख्या में 15 अक्टूबर को तहसील पर धरना-प्रदर्शन कर ऊर्जा मंत्री, ज़िलाधिकारी और अधिशासी अभियन्ता को ज्ञापन सौंपकर पूरे मामले का समाधान करने के लिए दबाव बनाया गया।

ज्ञापन में प्रशासन से यह माँग की गयी थी कि जनता को ऑफ़िस का चक्कर कटवाने की बजाय हर गाँव में कैम्प लगाकर प्रशासन ख़ुद ही लोगों के बीच जाकर पूरे मामले को हल करे। लोगों की एकजुटता और संघर्ष के आगे प्रशासन को झुकना पड़ा और अगले ही दिन विद्युत विभाग द्वारा शेड्यूल जारी किया गया। 19 अक्टूबर से 5 नवम्बर तक अलग-अलग गाँवों में कैम्प लगाकर इन समस्याओं को हल किया गया। भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी के वालण्टियर इस पूरी प्रक्रिया के दौरान अपने दस्ते बनाकर चौकसी बरतने के लिए इन कैम्पों पर तैनात रहे। परिणाम यह हुआ कि जिन लोगों को 50 हज़ार से एक लाख तक के फ़र्ज़ी बिल का भुगतान करने के लिए बाध्य किया जा रहा था, प्रशासन ने ख़ुद उनके गाँवों तक पहुँच कर बिल में सुधार किया और ज़्यादातर लोगों को 3000-5000 के बीच में बिल भुगतान करना पड़ा।

वास्तव में इस प्रकार की समस्याएँ बिजली विभाग को निजी हाथों में सौंपने की क़वायद की वजह से उत्पन्न हुई हैं जिससे लोगों को इन दिक़्क़तों का सामना करना पड़ रहा है। वर्ष 2015 में आलापुर तहसील क्षेत्र में राजीव गाँधी विद्युतीकरण योजना के तहत मीटर लगाया गया था जिसका कार्य ठेके पर कराया गया था जिसमें ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा बटोर लेने की कोशिश में ग़लत तरीक़े से मीटर फ़ीड कर दिया गया। इसके अलावा आलापुर तहसील के 472 गाँवों की ज़िम्मेदारी सँभालने वाले विद्युत विभाग में कर्मचारियों की संख्या भी काफ़ी कम है। कर्मचारियों की संख्या कम होने की वजह से लोगों को बहुत दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता है। ग्रामीणों की समस्याओं का निदान न होने की वजह से लोगों का ग़ुस्सा सरकारी कर्मचारियों के ऊपर होता है। दूसरी ओर सरकार कर्मचारियों की संख्या को बढ़ाने की बजाय सरकारी विभागों के कर्मचारियों के सर ठीकरा फोड़ कर, चोर दरवाज़े से निजीकरण की नीतियों को अंजाम देती रहती है। 20 गाँवों में आन्दोलन की जीत के बाद तमाम अन्य गाँवों में भी भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी के कार्यकर्ता इन सवालों को लेकर अभियान चलाने में जुट गये हैं। साथ ही लोगों को संगठित करके सत्ताधारी योगी सरकार द्वारा बिजली विभाग के निजीकरण करने के ख़िलाफ़ भी लोगों को संगठित किया जा रहा है ताकि इस लूट को क़ानूनी जामा पहनाने की सरकार की कोशिश को नाकाम किया जा सके।

– बिगुल संवाददाता

जारी है रिको ऑटो इंडस्ट्रीज़ के मज़दूरों का संघर्ष

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के धारूहेड़ा में रिको के मज़दूरों का संघर्ष पिछले चार महीने से जारी है। छँटनी किये गये स्थायी मज़दूर लगातार प्रतिदिन एस. एच. 48 हाईवे से औद्योगिक क्षेत्र में कम्पनी गेट तक नारे लगाते हुए मार्च और प्रदर्शन कर रहे हैं।

विगत 6 नवम्बर को ए.एल. सी. ऑफ़िस, गुड़गाँव में मज़दूरों ने प्रदर्शन किया और ज्ञापन भी दिया। प्रदर्शन स्थल पर विभिन्न यूनियनों के पदाधिकारियों ने आकर अपना समर्थन जताया। इसके बाद ए.एल. सी. ऑफ़िस ने अगले दिन फिर रिको यूनियन के पदाधिकारियों को बुलाया और आश्वासन दिया कि उनकी जल्दी ही कम्पनी प्रबन्धन से बात करवायी जायेगी। यूनियन के पदाधिकारियों ने बताया कि आने वाले दिनों में संघर्ष को और तेज़ किया जायेगा।

ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री कॉण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन (ए.आई.सी.डब्ल्यू.यू.) लम्बे समय से रिको के मज़दूरों के हर संघर्ष का लगातार समर्थन करती आयी है। 20 अक्टूबर को प्रदर्शन स्थल पर ए.आई.सी.डब्ल्यू.यू. के शाम ने अपनी बात में यह दोहराया कि हमें समय रहते प्रबन्धन के साथ चल रहे संघर्ष और अन्य कम्पनियों के मज़दूरों के नये-पुराने आन्दोलनों और पहले के ऐतिहासिक आन्दोलनों से सबक़ लेते हुए आगे बढ़ने की ज़रूरत है।

रिको प्रबन्धन अपनी कम्पनी के मज़दूरों पर लम्बे समय से हमला तेज़ करता जा रहा है और अब तक यूनियन का काफ़ी नुक़सान भी कर चुका है। कम्पनी प्रबन्धन पहले भी स्थायी और पुराने कैजुअल मज़दूरों को निकाल चुका है। प्रबन्धन ने काम की कमी और मन्दी का बहाना बनाकर पहले लेऑफ़ (अस्थायी काम बन्दी) के ज़रिये मज़दूरों को काम पर आने से रोका। फिर मशीनों को उठाने का मामला सामने आया और अन्त में कम्पनी को जो करना था वही किया, यानी स्थायी मज़दूरों की छँटनी! ताकि भविष्य में यूनियन व स्थायी मज़दूरों से छुटकारा मिल जाये।

शाम ने अपनी बात में साफ़ किया कि हम लोग कई बार सरकार, प्रशासन को ज्ञापन दे चुके हैं; श्रम विभाग भी लगातार चक्कर ही कटवा रहा है, न प्रबन्धन सुनने के लिए तैयार है, और न ही सरकार और प्रशासन की ओर से कोई कार्रवाई की जा रही है। उल्टे श्रम क़ानूनों में मज़दूर-विरोधी बदलाव कर दिये गये हैं ताकि भविष्य में बेख़ौफ़ होकर फ़ैक्ट्री मालिकों समेत पूरा पूँजीपति वर्ग मज़दूरों को ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़कर मुनाफ़े से अपनी तिजोरियाँ भरता रहे और कोई मज़दूर इस लूट-शोषण के ख़िलाफ़ आवाज़ भी न उठा पाये। ऐसे में हमारे पास संघर्ष के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा है।

जहाँ तक रिको के मज़दूरों के संघर्ष की बात है, अकेले रिको के मज़दूरों द्वारा आये दिन इस संघर्ष को जीत के मुक़ाम तक ले जाना मुश्किल होता जा रहा है। ऐसे में हमें बिना देर किये अपने संघर्ष का विस्तार करना होगा। हमें ऑटो यूनियनों व इस औद्योगिक पट्टी की तमाम यूनियनों को एक साथ लेना होगा और साथ ही कैजुअल व ठेका मज़दूरों को भी। तभी जाकर हम प्रबन्धन के मंसूबों को चुनौती दे सकते हैं। यानी हमें सेक्टरगत और इलाक़ाई एकता मज़बूत करनी होगी।

इसके साथ ही शाम ने देशभर में महिलाओं के ख़िलाफ़ बढ़ती रेप और अपराध की घटनाओं के ख़िलाफ़ ऑटोमाबाइल इण्डस्ट्री कॉण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन के द्वारा पिछले दिनों इलाक़े में बाँटे जा रहे पर्चे को प्रदर्शन स्थल पर वितरित किया और मज़दूरों का आह्वान किया गया कि हमें महिला सुरक्षा के लिए और महिला विरोधी अपराधों के ख़िलाफ़ मिलकर संघर्ष करना चाहिए।

इसके अलावा धारूहेड़ा के नागरिक सागरमल ने भी संघर्ष का समर्थन किया और मज़दूरों को जुझारू संघर्ष करने के लिए तैयार रहने के लिए कहा और रिको यूनियन के प्रधान राजकुमार को आश्वासन दिया कि ज़रूरत पड़ेगी तो इलाक़े के अन्य लोग भी आपके समर्थन में आयेंगे।

– शाम मूर्ति

प्रधानमंत्री आवास योजना की असलियत

जुमले ले लो, थोक के भाव जुमले...

– अनुपम

प्रधानमंत्री आवास योजना के पाँच साल पूरे हो चुके हैं। इस योजना की शुरुआत साल 2015 में की गयी थी और इसके तहत 2022 तक देश में दो करोड़ मकान बनाने का लक्ष्य रखा गया था। कुछ समय पहले केन्द्रीय वित्त मंत्री ने दावा किया कि इस योजना के तहत 12 लाख नये घर बनेंगे और 18,000 करोड़ रुपये का अतिरिक्त आवंटन होगा ताकि हाउसिंग और रियल एस्टेट सेक्टर में तेज़ी आये और लाखों बेरोज़गारों को रोज़गार मिल जाये। इस ख़बर के अनुसार ग्रेटर नोएडा के हज़ारों लोग पीएम आवास योजना द्वारा जारी सूची में अपने नाम दर्ज करवा चुकने के बावजूद अभी तक इस योजना का लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। हालत यह है कि उनके पास योजना द्वारा लोन की पहली क़िस्त तो पहुँच गयी है लेकिन दूसरी क़िस्त पहुँच ही नहीं रही। तो ऐसे में ज़ाहिर है कि लगातार योजना के अन्तर्गत की जा रही नयी-नयी घोषणाएँ आँकड़ों को बढ़ाने का ही एक नुस्ख़ा है जिसपर अमल करके यह दिखा दिया जायेगा कि सरकार ने लाखों बेघरों को घर दे दिया है लेकिन वास्तव में कितनों को लाभ वास्तव में मिलेगा, इसकी कोई गारण्टी नहीं है।

दूसरी बात यह कि योजना का लक्ष्य वास्तविक बेघरों को घर देना है ही नहीं। इस योजना के मूल दस्तावेज़ में ही लिखा है कि इसका उद्देश्य कमज़ोर आय वर्ग के लोगों को शहर या गाँव में सस्ती दर पर घर उपलब्ध कराना है। यानी कि यदि आपके पास अपनी नियमित आय के स्रोत का कोई प्रमाण-पत्र है तो ही आप इसके बारे में सोच सकते हैं। जिन लोगों के आय के स्रोत अनिश्चित हैं, जो किसी फ़ैक्ट्री या ऑफ़िस में संविदा या ठेके पर काम करते हैं, या सड़क पर ठेला या खोमचा लगाते हैं, उनके लिए इस योजना में कोई जगह नहीं। क्या झुग्गियों में रहने वाली देश की 24 प्रतिशत आबादी के लिए यह मुमकिन है कि वह मँहगाई के इस दौर में हर महीने कुछ राशि ऋण भरने के लिए अपनी आय से निकाल सके।

ग़रीब आदमी जिसकी थाली से दाल, प्याज और आलू एक-एक करके ग़ायब होते जा रहे हैं, वह हर महीने एक हज़ार रुपये भी अपनी ज़ेब से निकालने से पहले हज़ार बार सोचेगा। लेकिन सरकारें ये सब सोचकर योजनाएँ नहीं बनाती, वे अपने वोट बैंक के अनुरूप योजनाएँ बनाती हैं, इस योजना में भी नाम ग़रीब का है लेकिन उसके लाभार्थी केवल निम्न और उच्च मध्यम वर्ग के गिने-चुने हुए लोग है। बाक़ियों के लिए उसके मकान हज़ारों बीमारों पर एक अनार की तरह हैं जिसके पीछे लोग अपने अराजनीतिक समझ के कारण पागल हैं। उन्हें योजना के तहत बस इतनी छूट दी गयी है कि वे फ़ार्म भरें और फिर सूची में अपना नाम ढूँढ़ते फिरे। नाम छाँटने के भी अपने जातीय और वर्गीय समीकरण हैं। स्थानीय निकायों की कृपा पर भी काफ़ी कुछ निर्भर करता है। ऐसे में अन्ततः यही होता है कि सूची में उन्हीं लोगों के नाम आते हैं जो पार्षद या प्रधान के क़रीबी होते हैं, उनके नाम नहीं आते जो वास्तव में उस योजना के लिखित मानकों के अनुसार भी सभी आवेदकों में उसके हक़दार हों।

उसके बाद निर्माण योजनाओं में घपलों की तो कोई थाह ही नहीं है। बिल्डर, अधिकारी, मंत्री सभी पैसे खाते हैं, किसके पास कितनी राशि पहुँचेगी, इसकी कोई गारण्टी कोई नहीं लेता। उसकी निगरानी, चौकसी और सुनवाई करने का कोई सिस्टम बनाया ही नहीं गया है। आये दिन रोज ही आवास योजनाओं में धाँधली की ख़बरें आती रहती है। मगर ये ख़बरें न केवल दबा दी जाती है, बल्कि उसके साथ ही में यह भी ख़बर मोटे-मोटे अक्षरों में छापी जाती है कि आवास योजना के तहत लोग कितना अधिक लाभान्वित हो रहें हैं। जबकि सच्चाई यह है कि कहीं से बेघरों की संख्या में कमी आने के कोई आसार आँकड़ों में न तो नज़र आते हैं और न ही ऐसा कहीं दिखाई पड़ता है कि सड़क पर सोने वालों की संख्या में कोई कमी आयी हो। बल्कि लॉकडाउन के बाद से देखे गये सड़कों के नज़ारे से तो ऐसा लगता है कि यह संख्या बढ़ी ही है।

तो यह है प्रधानमंत्री आवास योजना, जिसके ढ़िढ़ोरे के पीछे की सच यह है कि यदि योजना बहुत अच्छे से लागू भी होती है तो भी कुल दो करोड़ परिवारों को ही मकान मिलने वाला है और वह भी 2022 तक। योजना के मूल दस्तावेज़ में 25 जून 2015 से 31 जून 2022 तक इतने ही घर बनवाने का लक्ष्य इस योजना के अन्तर्गत रखा गया था। 2014 की एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार भारत में झुग्गियों में रहने वाली आबादी की संख्या 30 करोड़ से भी ज़्यादा है, तो इनमें से दो करोड़ लोगों को अगर घर मिल भी जाता है तो उसे सबको घर मिलना तो क़तई नहीं कह सकते। ऐसे में इसका नारा 'हाउसिंग फॉर ऑल (सभी के लिए घर)' जनता के जले पर नमक छिड़कना ही है।

इन योजनाओं को चलते रहने से रियल एस्टेट से जुड़े पूँजीपति भी ख़ुश ही रहते हैं। उन्हें अगर सीधे ही सरकार से कालोनियाँ बनाने का ठेका मिल जाये, तब तो उनकी बाँछें ही खिल जाती हैं। बाद में उनके द्वारा बनाये गये इन सस्ते घरों की छतें या दीवार गिरने से कोई बच्चा-औरत या मर्द मर जाता है, तो इससे भी उन्हें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। इससे भी उनकी साख़ पर भी कोई बट्टा तो लगने से ही रहा क्योंकि लोगों को लगता है कि कम पैसे में बने घर का जल्दी जर्जर होना लाज़िमी है। उन्हें यह नहीं मालूम होता है कि उसी घर के निर्माण के लिए ऊपर से कितने पैसे आवण्टित हुए हैं और कितनी सब्सिडी उन्हें मिली है। इन्हीं सब कारणों से वे आन्दोलन या किसी क़िस्म का विरोध भी अक्सर नहीं करते, और जनदबाव के अभाव में फिर घटिया निर्माण की कोई जाँच नहीं होती।

मेडिकल छात्रों की फ़ीसें बढ़ाकर हरियाणा की भाजपा-जजपा सरकार ने शिक्षा व इलाज के जनता के अधिकारों पर किया बड़ा हमला!

हरियाणा में मेडिकल की पढ़ाई की फ़ीस में बेतहाशा बढ़ोत्तरी कर दी गयी है। सरकारी कॉलेजों/संस्थानों में एमबीबीएस यानी मेडिकल में स्नातक/ग्रेजुएशन की फ़ीस पहले जहाँ सालाना तक़रीबन 53,000 होती थी वहीं अब इसे बढ़ाकर 80,000 कर दिया गया है। यही नहीं, इसमें हर वर्ष 10 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी भी की जायेगी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक छात्र को दाखिले के समय फ़ीस के अलावा 10 लाख रुपये (घटा फ़ीस) का बॉण्ड भी भरना पड़ेगा। जैसे यदि प्रथम वर्ष के छात्र की सालाना फ़ीस होगी 80,000 रुपये तो उसे 9 लाख 20 हज़ार रुपये बॉण्ड के तौर पर भरने होंगे।

नयी नीति लागू होने के बाद मेडिकल माध्यम से ग्रेजुएशन करने वाला हरेक छात्र पढ़ाई के अपने चार सालों में 3,71,280 रुपये फ़ीस के नाम पर भरेगा तो 36,28,720 रुपये बॉण्ड के नाम पर। असल में यह बॉण्ड कुछ और नहीं बल्कि फ़ीस ही होगी। जिसके लिए छात्रों को लोन दिलवाने की "सुविधा" दी जायेगी। इस लोन को एजुकेशन लोन की ही श्रेणी में परिभाषित किया गया है। कुल मिलाकर प्रत्येक छात्र की सालाना फ़ीस कम से कम 10 लाख रुपये कर दी गयी है। छात्रावास या रहने-खाने और किताबों व पढ़ाई से जुड़ा अन्य ख़र्च इस 10 लाख के अतिरिक्त होगा। कहना नहीं होगा कि सरकार का यह क़दम मेडिकल की पढ़ाई के इच्छुक छात्रों के सपनों को पैरों तले रौंदना होगा। यही नहीं यह निःशुल्क चिकित्सा के हक़ को तो छोड़ ही दीजिए जनता के सस्ते दवा-इलाज तक पर बड़ा हमला होगा।

मेडिकल, इंजीनियरिंग और मैनेजमेण्ट जैसे विषय पहले ही व्यापक ग़रीब आबादी की पहुँच से बाहर हो चुके थे। अब तो कोई आम मध्यवर्ग का होनहार भी इन क्षेत्रों में जाने का सपना नहीं देख सकता है। सरकार का शिक्षा को महँगा करने का यह क़दम ग़रीब-विरोधी है और शिक्षा के अधिकार पर सीधे तौर पर हमला है। निःशुल्क शिक्षा के किसी जुझारू जनान्दोलन की अनुपस्थिति में सरकार मनमाने ढंग से शिक्षा को बिकाऊ माल बनाने पर तुली हुई है। भाजपा-जजपा की ठगबन्धन सरकार यदि मेडिकल छात्रों/डॉक्टरों के निजी स्वास्थ्य सेवाओं में जाने से इतना ही ख़फ़ा है और इसे ग़लत मानती है तो फिर निजी स्वास्थ्य संस्थानों को सरकारी संस्थानों में क्यों नहीं सहयोजित कर लिया जाता। न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। लेकिन सरकार ऐसा कदापि नहीं करेगी क्योंकि इनकी नस्ल के तमाम नेता-मंत्री अपना स्वयं का इलाज तो प्राइवेट होटल नुमा आलीशान अस्पतालों में ही कराते हैं। बस सरकारी अस्पतालों में धक्के खाने के लिए तो जनता ही अभिशप्त है।

हरियाणा सरकार का कहना है कि मेडिकल के छात्र सस्ती सरकारी शिक्षा हासिल करके प्राइवेट सेक्टर की ओर रुख़ कर लेते हैं। छात्रों के पलायन को रोकने के लिए फ़ीस बढ़ाने और बॉण्ड में बाँधने के टोटके की आज़माइश की गयी है। सरकार का कहना है कि जो छात्र सरकारी चिकित्सा सेवाओं को ज्वाइन करेंगे उनका ऋण या बॉण्ड वह ख़ुद चुकायेगी, इस शर्त पर कि छात्र 7 साल तक सरकारी चिकित्सा सेवाओं में कार्य करे। लेकिन सरकार इस बात की कोई गारण्टी नहीं देगी कि प्रत्येक एमबीबीएस उत्तीर्ण को सरकार नौकरी दे ही देगी। हरियाणा में हर साल तक़रीबन 1,400 मेडिकल छात्र पास होते हैं तथा रोज़गार की तलाश में निकलते हैं। सरकारी अस्पतालों में बमुश्किल 200-300 की ही भर्ती की जाती है। अब ऐसे में भला सभी छात्र सरकारी सेवाओं में कैसे समायोजित हो सकते हैं। जो छात्र सरकारी सेवाओं में चाहकर भी नहीं जा सकेंगे वे मूलधन को तो छोड़ ही दीजिए पढ़ाई पर ख़र्च हुए 40 लाख रुपये का ब्याज भी कैसे चुका पायेंगे? फिर या तो उन्हें भव्य प्राइवेट अस्पतालों की शरण में जाकर मरीज़ों की जेबें काटनी पड़ेंगी या फिर मेडिकल की पढ़ाई से ही तौबा करना पड़ेगा। 50-60 लाख ख़र्च करके चिकित्सा की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्रों को अपने ज़मीर के साथ समझौता करके सफ़ेद लिबास में डाकू बनने के लिए मजबूर किया जायेगा और ऐसे हालात में इनमें से बहुत से ख़ुद ही ताउम्र डिप्रेशन में रहेंगे। और इसकी ज़िम्मेदारी सीधे तौर पर सरकार पर ही होगी।

हरियाणा में मेडिकल सेवाएँ ख़स्ताहाल हैं। तमाम भर्तियाँ एडहॉक आधार पर की जा रही हैं। डॉक्टरों की संख्या भी ज़रूरत से काफ़ी कम है। मौजूद स्टाफ़ पर बेतहाशा दबाव रहता है। इसके बावजूद भी सरकार भर्ती के प्रति उदासीन है तथा फ़ीस बढ़ोत्तरी का ठीकरा भी पलायन का बहाना बनाकर मेडिकल के छात्रों और डॉक्टरों पर ही फोड़ना चाहती है। सरकार के इस जनविरोधी क़दम का आमजन को संगठित विरोध करना चाहिए।

इस समय हम नौजवानों से यह नहीं कह सकते कि वे बम और पिस्तौल उठायें। आज विद्यार्थियों के सामने इससे भी महत्त्वपूर्ण काम है।...नौजवानों को क्रान्ति का यह सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचाना है, फ़ैक्टरी-कारख़ानों के क्षेत्रों में, गन्दी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में इस क्रान्ति की अलख जगानी है जिससे आज़ादी आयेगी और तब एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण असम्भव हो जायेगा।

– भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त की ओर से जेल से भेजा गया यह पत्र 19 अक्टूबर, 1929 को पंजाब छात्र संघ, लाहौर के दूसरे अधिवेशन में पढ़कर सुनाया गया था। अधिवेशन के सभापति थे नेता जी सुभाषचन्द्र बोस

जनता की भुखमरी और बेरोज़गारी के बीच प्रधानमंत्री की अय्याशियाँ

– रूपा

आज देश की अर्थव्यवस्था में लगातार गिरावट जारी है, वैश्विक भुखमरी सूचकांक में भारत नेपाल, म्यामार और श्रीलंका जैसे देशों से भी पीछे जा चुका है, देश में बेरोज़गारी की हालत पिछले 46 सालों में सबसे बुरी है, लोगों के रहे-सहे रोज़गार भी छिन गये हैं, महँगाई आसमान छू रही है, मेहनत-मज़दूरी करने वाले लोग मुश्किल से गुज़ारा कर रहे हैं। मगर ख़ुद को प्रधानसेवक कहने वाले हमारे प्रधानमंत्री महोदय बड़ी ही बेशर्मी के साथ आये दिन ऐय्याशियों के नये-नये कीर्तिमान रच रहे हैं।

दस लाख का डिज़ाइनर सूट पहनने वाले, डेढ़ लाख के विदेश चश्मे और घड़ी पहनने वाले और ढाई लाख के मशरूम गटक जाने वाले हमारे प्रधानसेवक महोदय की ख्वाहिश पूरी करने करने के लिए हाल ही में ख़ास ऑर्डर पर अमरीका से दो आलीशान सर्वसुविधायुक्त विमान एयर इण्डिया वन (बोइंग 777) तैयार करवाये गये हैं। इनकी एक घण्टे की उड़ान का ख़र्च लगभग सवा करोड़ रुपये है। इनमें वीवीआईपी के लिए विशेष सुइट है और हर वह सुविधा मौजूद है जो अमेरिकी राष्ट्रपति के विमान में मौजूद होती है। एक विमान अक्टूबर में आ भी चुका है, दूसरा विमान जो राष्ट्रपति के लिए होगा, दिसम्बर तक आने की उम्मीद है। इन दोनों विमानों की क़ीमत लगभग 8500 करोड़ रुपये बतायी गयी है। इन विमानों में हवा में ईंधन भरा जा सकता है और हवा में वीडियो और ऑडियो कम्यूनिकेशन की भी सुविधा है। अमेरिका ने इन दोनों विमानों के लिए ख़ास रक्षा प्रणाली दी है जिसकी क़ीमत क़रीब 1300 करोड़ है। ख़ास बात यह है कि भारत के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के लिए पहले से ही दो बेहतरीन विमान मौजूद हैं।

सोचने वाली बात है कि विलासिता के शिखर छूने वाले ये दोनों विमान ऐसे समय में खरीदे गये है जब देश में कोरोना का कहर जारी है। लोग सही समय पर इलाज न मिलने की वजह से अपनी जान गँवा रहे हैं। ऐसे में कोई भी संवेदनशील प्रधानमंत्री अपनी सुख-सुविधाओं में कटौती करके सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं की बेहतरी के बारे में सोचता। लेकिन हमारे फ़कीर प्रधानसेवक से संवेदनशीलता की अपेक्षा करना बेमानी है।

यह समझने के लिए अर्थशास्त्री होने की ज़रूरत नहीं है कि देश की आर्थिक स्थिति अभी ऐसी नही है कि इस बेहद ख़र्चीले विमानों का बोझ उठा सके, फिर भी ये मँहगे विमान मँगाए जा रहे हैं। इसपर अन्धभक्त कहेंगे कि इसमे क्या ग़लत बात है? हमारे मोदीजी को अमेरिका के राष्ट्रपति सरीख़ी सुविधा क्यो न दी जाये? आख़िर मोदीजी दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के प्रधानमंत्री जो ठहरे। वैसे इन्ही अन्धभक्तों को एक बार यह बोल दिया जाये कि भारत में भी अमेरिका की तरह हर परिवार को कोरोना काल में 40 हज़ार रुपये मासिक भत्ता दिया जाये तो उन्हें तुरन्त याद आ जायेगा कि अमेरिका तो विकसित देश है और भारत ठहरा एक ग़रीब देश! वह अपने नागरिकों को इतनी सुविधा कैसे दे सकता है?

भारत में कोरोना काल मे हालत यह है कि सरकार के पास एयर इण्डिया के पास कर्मचारियों के प्रोविडेण्ट फ़ण्ड और टीडीएस तक जमा कराने के लिए भी पैसा नहीं हैं रेलवे में पेंशन फ़ण्ड में डालने के पैसे नही है, रेलवे कर्मचारियों को कोई बोनस नही है, कई राज्यों की सरकारों के पास स्वास्थ्य कर्मियों को तनख़्वाह देने के पैसे नही है, डॉक्टरो को देने के लिए तनख़्वाह नहीं है, कई विभागों में कर्मचारियों के खाते में तनख़्वाह आये छह महीने से अधिक हो गये हैं और कुछ विभाग ऐसे भी हैं जहां लगभग एक साल से कर्मचारियों को कोई तनख़्वाह नहीं मिली। यही हालत देश भर में संविदा शिक्षकों की है। इसके अलावा हर सरकारी एवं अर्द्धसरकारी संस्थान के कर्मचारियों के वेतन भत्तों में या तो कटौती की जा चुकी हैं या जल्द ही किये जाने की योजना है। मोदी सरकार पूरी बेशर्मी के साथ राज्यों को जीएसटी मुआवज़ा देने से इनकार कर चुकी हैं जो कि उनका हक़ है। देश में कोरोना महामारी के नाम पर जो पीएम केयर फ़ण्ड बनाया गया उसका पैसा कहाँ गया यह किसी को नहीं मालूम और ना ही मालूम किया जा सकता है।

अभी हाल ही में सरकार का बयान आया है कि बजट में अनुमोदित किया गया उसका सरकारी ख़र्च इन 6 महीनो में ही ख़त्म हो गया है और अब सरकार को कामकाज़ के लिए बाज़ार से और क़र्ज़ लेना होगा, राज्यों को भी कोरोना काल मे ख़र्च चलाने के लिए क़र्ज़ लेना होगा। ग़म और उदासी भरे इस माहौल में हमारे प्रधानसेवक एयरफोर्स वन जैसे विमान ख़रीदकर अपनी शानोशौकत का नग्न प्रदर्शन कर रहे हैं!

कहने को तो भारत एक लोकतांत्रिक देश है जहाँ जनता के प्रतिनिधि जनता द्वारा चुनकर जाते हैं और जनता के सेवक होते हैं। लेकिन हमारे प्रधानसेवक की जीवन शैली पर एक नज़र डालते ही इस लोकतंत्र की पोल खुल जाती है।

टीआरपी घोटाला: पूँजीवादी मीडिया का नंगा रूप

– अंजलि

वैसे तो मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खम्भा कहा जाता है लेकिन जो लोकतंत्र आम मेहनतकश जनसमुदाय के ख़ून-पसीने की कमाई को हड़प कर ही अस्तित्वमान रह सकता हो और अपने ख़िलाफ़ उठने वाले हर जनवादी आवाज़ को पुलिस-प्रशासन के दम पर कुचलने पर आमादा हो, ऐसे लोकतंत्र का हर खम्भा जनता के सीने में बेरहमी से धँसा होता है। इससे मीडिया भी अछूता नहीं है। मीडिया का पूरा खेल पूँजी के इर्द-गिर्द चलता है। कोई भी शोषणकारी व्यवस्था अपने अस्तित्व को लम्बे समय तक बरक़रार रखने के लिए, विभिन्न माध्यमों से अपने विचारों, एजेण्डों, दृष्टिकोणों और अपनी नीतियों की स्वीकार्यता स्थापित करती है। पूँजीवादी मीडिया इस कर्तव्य को बखूबी निभा रही है। विज्ञापन जगत और मीडिया संस्थान एक दूसरे से जैविक रूप से जुड़ा हुआ है। सभी बड़े बुर्जुआ अख़बार, टीवी चैनलों और मीडिया संस्थान कॉरपोरेट मॉडल पर संचालित होते हैं और इनका मुनाफ़ा विज्ञापनों के ज़रिये आता है। मुनाफ़ा कमाने की होड़ में आये दिन घपले-घोटाले होते रहते है। अभी सबसे ताज़ा मसला जो सामने आया है वो है टीआरपी घोटला!

टीआरपी घोटाला समझने के लिए सबसे पहले हमें यह जानना पड़ेगा की टीआरपी क्या है? इसे मापते कैसे हैं? टीआरपी ज़्यादा होने से कैसे टीवी चैनल को फ़ायदा होता है? टीआरपी का पूरा नाम टेलीविजन रेटिंग प्वाइंट हैं। टीआरपी रेटिंग्स यह बताता है कि कौन-सा चैनल कितना देखा जाता है। जिस चैनल की रेटिंग ज़्यादा होती है, माना जाता है कि वो चैनल ज़्यादा

देखा जा रहा है, लोगों के बीच मे ज़्यादा लोकप्रिय है। टीआरपी को मापने का काम बीएआरसी (ब्रॉडकास्ट ऑडियंस रिसर्च काउंसिल) नाम की संस्था करती है। टीआरपी मापने के लिए देश के अलग-अलग इलाक़ों में सेटटॉप बॉक्स के साथ बैरोमीटर या पीपल मीटर नाम की डिवाइस लगाई जाती है। पीपल मीटर कहाँ लगा है इसकी जानकारी केवल बीएआरसी और पीपल मीटर लगाने वाली कम्पनी (हंसा) को होती है। अभी देश में क़रीब 44,000 पीपल मीटर लगे हुये हैं। पीपल मीटर अपने आस-पास के सेटटॉप बॉक्स की जानकारी (मसलन कौन-सा चैनल, कौन-सा शो और कितनी देर तक चला आदि) मॉनिटरिंग टीम को भेज देता है और इसी आधार पर हर हफ़्ते बीएआरके टीआरपी जारी करता है। वैसे तो यह संख्या देश में टीवी इस्तेमाल करने वाले परिवारों की तुलना मे बहुत कम है इसलिए इसकी सम्भावना बेहद कम है कि इससे निकले गये आँकड़े सच्चाई से मेल खाते होंगे। दूसरे, पीपल मीटर के जरिये इकट्ठा किए गये इन आँकड़ो को कोई सत्ता या कम्पनी अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल कर सकती है। मतलब साफ़ है कि टीआरपी के लिए डेटा इकट्ठा करने कि प्रक्रिया ही जनता के निजता के अधिकार के ख़िलाफ़ है।

टीवी चैनलों के कमाई का मुख्य ज़रिया ही विज्ञापन है, लेकिन हर चैनल के लिए विज्ञापन की दर एक नहीं होती है। यह दर टीआरपी रेटिंग के आधार पर तय की जाती है। जिसकी रेटिंग जितनी अच्छी उसके लिए विज्ञापन कि दर उतनी ऊँची। इसीलिए तमाम टीवी चैनल अपनी टीआरपी बढ़ाने के लिए जनता के असली मुद्दों शिक्षा, चिकित्सा, बेरोज़गारी, महँगाई आदि से मुँह मोड़कर मेहनतकश आवाम की वर्गीय एकजुटता को कमज़ोर करने के लिए धार्मिक, क्षेत्रीय, भाषायी भावनाओं को उभारकर लोगों को आपस मे लड़वाकर एक तीर से दो निशाने साध रहे हैं। एक तरफ़ लोगों के गुस्से से पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा कर रहे हैं, दूसरी तरफ़ अपने मुनाफ़े का इंतज़ाम भी।

हाल ही में टीआरपी घोटाले में रिपब्लिक भारत, न्यूज़ नेशन, महामूवी चैनल और इसके अलावा दो मराठी चैनल फ़क्त मराठी व बॉक्स ऑफिस का नाम सामने आया है। ये चैनल टीआरपी बढ़ाने के लिए उन लोगों को पैसा दे रहे थे जिनके घरों मे पीपल मीटर लगा हुआ है, ताकि लोग इनका चैनल खोले रहें, चाहे वह देखें या ना देखें। वैसे टीआरपी का खेल कोई नया नहीं है बल्कि इण्डस्ट्री में यह कम से कम 30 साल से चल रहा है। इस खेल में लगभग सभी चैनल शामिल हैं। इस घोटाले ने पूँजीपति-नौकरशाही के साँठ-गाँठ को पूरी तरह से नंगा कर दिया है, क्योकि बिना प्रशासनिक साँठ-गाँठ के यह सम्भव ही नहीं है कि न्यूज़ चैनल उन घरों का पता लगा सके जिन घरों मे पीपल मीटर लगा हुआ है। अब यह मसला सामने आने के बाद बीएआरसी अपनी साख़ बचाने और अपने को पाक-साफ़ दिखने के लिए टीआरपी रेटिंग्स को तीन महीने तक न निकालने का प्रपंच रच रही है। यह कुछ और नहीं बल्कि जनता को दिया जाने वाला एक और लॉलीपाप है ताकि लोग तीन महीने मे इस मसले को भूल जाएँ और फिर इनका खेल बदस्तूर चलता रहे।

दरअसल टीआरपी का पूरा सिस्टम ही एक घोटाला है और सभी चैनल इस घोटाले से फ़ायदा उठाते रहे हैं। रेटिंग का फ़्राड सिर्फ़ एक तरीक़े से नहीं किया जाता है। यह काम सिर्फ़ अकेले चैनल नहीं करता है बल्कि इस खेल में सत्ता भी मदद करती है। मुम्बई पुलिस की कार्रवाई से उन लोगों को कुछ नयी जानकारी नहीं मिली जो मीडिया के कारोबार को जानते हैं। ये सारी बातें अन्दर के लोग जानते हैं। अर्णब गोस्वामी का नाम आते ही बाक़ी गोदी मीडिया के कुत्ते अपने-अपने मालिकों के बचाव में ऐसे भौंकने लगे जैसे वे इससे अलग हों। अर्णब के चैनल पर एफआईआर से उछलने वाले चैनल भी गोदी मीडिया की गन्द में कम भागीदार नहीं हैं। आज ज़्यादातर चैनल 'रिपब्लिक' जैसे हो चुके हैं और दूसरे भी वैसा ही बनना चाहते हैं। उन चैनलों पर भी तो वही सब दिखाया जाता रहा है।

अर्णब गोस्वामी अपने भाजपाई मालिकों के लिए कितना उपयोगी है, इसका पता तो उसकी गिरफ़्तारी के बाद भाजपा के मंत्रियों की चीख़-पुकार से ही लग गया। अनेक बुद्धिजीवी, बुज़ुर्ग सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार फ़र्ज़ी आरोपों में जेलों में बन्द हैं, लेकिन भाजपा की ओर से सबसे ज़ोर से भौंकने वाले कुत्ते को छुड़ाने के लिए पूरी सरकार और देश की सबसे बड़ी अदालत एक टाँग पर खड़ी हो गयी।

वास्तव में अपने आक़ाओं की सेवा करने और असली मुद्दों से जनता का ध्यान भटकाने के लिए ये तमाम चैनल झूठी ख़बरें, अश्लील फ़िल्में, फूहड़ विज्ञापन, साम्प्रदायिक-अन्धराष्ट्रवादी उन्माद की ख़ुराक लोगों के बीच में बाँटती रहते हैं। मौजूदा सत्ताधारी भाजपा सरकार के समय में मीडिया का यह चरित्र और ज़्यादा उजागर हुआ है। सच्चाई यह है कि पूँजी की सेवा और मुनाफ़ा कमाने की अन्धी होड़ में लगी पूँजीवादी मीडिया से आज देश की मेहनतकश जनता कोई उम्मीद नहीं पाल सकती है। पूँजीवादी मीडिया के वर्चस्व के बरक्स आज एक वैकल्पिक क्रान्तिकारी मीडिया खड़ा करना होगा। उनके पास पूँजी और सत्ता की ताक़त है, हमारे पास सच्चाई और जनता की ताक़त है। काम लम्बा और मेहनत का है, पर असम्भव नहीं।

मोदी सरकार की अमेरिका-परस्ती का नतीजा है भारत-अमेरिका रक्षा समझौता!

– अपूर्व

जब से देश में 56 इंच सीने वाली मोदी सरकार आयी है तब से ऐसा कोई क्षेत्र नहीं रहा है जहाँ हताशा-निराशा, विफलता हाथ न लगी हो। फ़ासीवादी राज्य के दमन-हिंसा, अराजकता के साथ देश की अर्थव्यवस्था, राजनीतिक पतनशीलता, वैदेशिक और कूटनीतिक सम्बन्धों की इन छह सालों में जो दुर्गति हुई है वह किसी से भी छिपी नहीं है। अपनी इन्हीं "सफलताओं" को आगे बढ़ाते हुए मोदी सरकार ने अमेरिका से 'बेका' (BECA) रक्षा समझौते पर हस्ताक्षर करके एक और काला अध्याय जोड़ दिया है। 'बेका' समझौते में किस तरह मोदी सरकार अमेरिका के आगे झुकी है इसको समझने के लिए अमेरिकी रक्षा समझौतों की शर्तों को समझना होगा।

अमेरिका के साथ रक्षा समझौता मुख्यतः चार फ़ाउण्डेशनल एग्रीमेण्ट से पूरा होता है। पहला 'जीसोमिया' (GSOMIA), दूसरा 'लिमोआ' (LEMOA), तीसरा 'कॉमकासा' (COMCASA) और चौथा 'बेका' (BECA)। इन चार बुनियादी समझौतों में पहला समझौता 2002 में तत्कालीन एनडीए सरकार ने ही शुरू किया था। उस समय अटल बिहारी की सरकार में रक्षा मंत्री रहे जॉर्ज फर्नांडीज़ ने 'जीसोमिया' समझौता किया था। इसके तहत सैन्य सूचनाओं के आदान-प्रदान के साथ अमेरिकी हथियारों की ख़रीद-फ़रोख़्त का रास्ता साफ़ हुआ था। यूपीए शासनकाल में बाक़ी के तीन समझौते आगे नहीं बढ़ सके। इन समझौतों की शर्तों और भारतीय सैन्य सूचनाओं की गुप्तता के लीक हो जाने के ख़तरों के कारण यूपीए सरकार कोई निर्णय नहीं ले सकी। लेकिन 2014 में मोदी सरकार के आने के बाद ही इन समझौतों की प्रक्रिया फिर शुरू हो गयी। 2016 में 'लिमोआ', 2018 में 'कॉमकासा' और अक्टूबर 2020 में 'बेका' पर हस्ताक्षर के साथ ये चारों समझौते पूरे भी हो गये।

क्या हैं ये समझौते!

हम सभी जानते हैं कि पूँजीवादी दुनिया में कोई भी समझौता बराबरी का नहीं होता। एक बड़े साम्राज्यवादी देश का छोटे साम्राज्यवादी देश से या एक विकसित पूँजीवादी देश का कम विकसित या पिछड़े पूँजीवादी देश से होने वाला कोई भी समझौता हमेशा बड़े और ताक़तवर देश के हित में ही ठहरता है। अमेरिका जैसा साम्राज्यवादी देश अगर किसी देश से रक्षा समझौता करता है तो उसका उद्देश्य सिर्फ़ अपने हथियारों को बेचना ही नहीं बल्कि अपने सैन्य ठिकानों के विस्तार के साथ ही उस राष्ट्र के सामरिक और राजनीतिक हितों में हस्तक्षेप करना भी होता है। यह किसी से छिपा नहीं है कि जिन-जिन देशों के साथ अमेरिका ने रक्षा समझौते किये हैं, उन देशों में अमेरिका का राजनीतिक और सैन्य हस्तक्षेप बढ़ा ही है।

संघी फ़ासिस्टों का अमेरिका के प्रति हमेशा से झुकाव रहा है। भाजपा के सत्ता में होने पर अमेरिकी कम्पनियों और अमेरिकी सत्ता को कई तरह की छूटें मिलती रही हैं। मोदी सरकार तो ट्रम्प सरकार के साथ अपनी जुगलबन्दी बढ़ाने के चक्कर में कुछ ज़्यादा ही झुकने को आतुर रही है। 2002 के 'जीसोमिया' समझौते के बाद अब मोदी सरकार ने जो अन्य तीन समझौते हड़बड़ी में किये हैं उनमें 'लिमोआ' समझौते के तहत दोनों देश एक दूसरे के सैन्य संसाधनों का उपयोग कर सकते हैं। यानी एक दूसरे के जहाज़ों और विमानों को ईंधन की आपूर्ति या अन्य ज़रूरी सामान मुहैया कराना, उसके बन्दरगाहों, हवाई अड्डों या विमानवाहक पोतों पर विमानों का ठहराव इत्यादि। 'कॉमकासा' समझौते के तहत अमेरिका भारत को गोपनीय सन्देश वाले उपकरण मुहैया करा सकता है। इसके माध्यम से शान्ति या युद्ध के समय दोनों देश निर्बाध रूप से गोपनीय बातचीत कर सकते हैं। 'बेका' समझौते के तहत भारत को किसी पर निशाना लगाने या अपने दुश्मन की गतिविधियों की सटीक जानकारी के लिए अमेरिकी रक्षा मंत्रालय द्वारा विकसित जीपीएस सिस्टम से मदद मिल सकेगी। मिसाइल को निशाना लगाने के लिए सिर्फ़ भू-स्थानिक जानकारी ही नहीं बल्कि भौगोलिक स्तर पर चुम्बकीय और गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी जानकारी की भी ज़रूरत होती है। यह जानकारी भी यह जीपीएस सिस्टम देता है। अमेरिकी जीपीएस सिस्टम अभी इस्तेमाल किये जाने वाले जीपीएस सिस्टम से कई गुना अधिक सटीकता के साथ जानकारी देता है। साथ ही ये गतिमान लक्ष्य को ट्रेस कर अंतिम सेकंड तक मिसाइल को सूचना देता रहता है, जिससे निशाना चूकने की सम्भावना बहुत ही कम हो जाती है।

एकबारगी आपको भी लग रहा होगा कि इतनी विकसित तकनीक हमें मिल रही है तो इसमें बुरा क्या है!

असल मामला यह है कि 'बेका' समझौते के तहत जो अमेरिकी जीपीएस सिस्टम मिलेगा उसे इस्तेमाल करने के लिए भारत को उस तकनीक को सपोर्ट करने वाले सॉफ़्टवेयर अपनी क्रूज़ और बैलिस्टिक मिसाइलों में लगाना होगा या उस तकनीक को सपोर्ट करने वाली मिसाइलें अमेरिका से ख़रीदनी होंगी। इन दोनों ही सूरतों में भारतीय मिसाइलों की संख्या से लेकर उसकी लोकेशन और पोज़ीशन तक की सभी सूचनाएँ अमेरिका के पास होंगी। दूसरी बात यह है कि इतना होने के बावजूद निशाना लगाते समय भारत को अमेरिकी उपग्रह और उसके सैन्य संचालकों का सहारा लेना होगा और उन्हीं के माध्यम से भारत को एन्क्रिप्टेड डेटा प्राप्त होगा। यानी अगर भारत को किसी पर निशाना लगाना है तो उसके लिए भी अमेरिका की सहमति आवश्यक होगी। कुल मिलाकर भारतीय सैन्य तंत्र का ढाँचा और युद्ध सामग्री अमेरिका की निगरानी में चली जायेगी। और यह बिल्कुल सम्भव है कि अमेरिका भारत के किसी सैन्य निर्णय को आसानी से प्रभावित कर सके।

इस पूरे रक्षा समझौते से एक बात निकलकर आ रही है कि दक्षिण एशिया में भारत और अमेरिका की सैन्य रणनीतियाँ एक जैसी होने जा रही हैं। यह सारी क़वायद हिन्द-प्रशांत महासागर में चीन की गतिविधियों पर नज़र रखने और अंकुश लगाने के लिए हैं।

लेकिन ग़ौर करने वाली बात यह है कि भारत और अमेरिका के अलग-अलग देशों से कूटनीतिक सम्बन्ध और हित अलग-अलग हैं। पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान और ईरान जैसे मसलों पर भारतीय शासक वर्गों की राय अमेरिका से बिल्कुल भिन्न है। दूसरी ओर, चीन के मसले पर भी दोनों देशों के बीच मतभेद हैं। ऐसे में भारतीय सैन्य सिस्टम को अमेरिका से जोड़ने पर भारत को क्या हासिल होगा! दूसरी तरफ़ अमेरिका की चित्त भी अपनी और पट्ट भी अपनी है।

भारत दुनिया का दूसरे नम्बर का हथियार ख़रीदार है। अभी तक भारत के लगभग सत्तर फ़ीसदी हथियार रूस के हैं। अमेरिका को अपने हथियार सप्लाई के लिए एक बड़े बाज़ार की भी ज़रूरत है। इस समझौते से आगे अमेरिकी हथियारों की भारी ख़रीदारी का रास्ता भी साफ़ हो गया है। दूसरी तरफ़ 'लिमोआ' समझौते के तहत हिन्द महासागर में अमेरिका भारत के सैन्य संसाधनों, हवाई अड्डों, बंदरगाहों आदि का इस्तेमाल कर सकता है। इसमें आश्चर्य नहीं कि चीन पर निगरानी के बहाने भारत में अमेरिकी गुप्तचर और खुफ़िया एजेंसियों की घुसपैठ भी बढ़ सकती है। इस समझौते से उसे उसके दुनिया भर में बिखरे आठ सौ से भी ज़्यादा सैन्य ठिकानों के विस्तार में भी मदद मिलेगी।

ऐसा नहीं है कि ये समझौते भारतीय शासक वर्ग ने मजबूरी में किये हैं। भारतीय शासक वर्गों की भूमिका साम्राज्यवाद के जूनियर पार्टनर की रही है। अपनी आर्थिक हैसियत और ज़रूरतों के हिसाब से ये साम्राज्यवादियों के आगे कभी झुकते, कभी तनते रहे हैं। भाजपा और आरएसएस के सत्ता में रहने पर इनका झुकाव अमेरिका की तरफ़ स्पष्ट रूप से होता है। समझौता उसी निकटता का नतीजा है। अमेरिकी लठैत इज़रायल के साथ रिश्ते बढ़ाने से लेकर चीन की घेरेबन्दी में अमेरिका का साथ देने तक यह साफ़ दिखता है। एशिया में और दुनिया के स्तर पर एक बड़ी पूँजीवादी ताक़त के रूप में उभर रहे चीन से प्रतिस्पर्धा में भारत के शासक वर्ग अभी कहीं नहीं ठहरते हैं। इसलिए भी वे इस मामले में अमेरिका के साथ लग लिये हैं।

सबसे बड़ी बात यह है कि इन समझौतों का देश की मेहनतकश जनता के हितों से कोई लेना-देना नहीं है। ग़रीबी और भुखमरी के सभी पैमानों पर जो देश दुनिया के छोटे-छोटे देशों से भी बहुत नीचे है, वह दुनिया में हथियारों का दूसरे नम्बर का सबसे बड़ा ख़रीदार हो, इससे ज़्यादा शर्मनाक बात क्या होगी? देश के करोड़ों लोगों को शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन और आवास की व्यवस्था जिस राशि से की जानी चाहिए, वह दुनियाभर के मौत के सौदागरों से हथियार ख़रीदने पर फूँक दी जाती है। सिर्फ़ शासक वर्गों के चौधराहट के मंसूबों को पूरा करने के लिए।

फ़ासीवाद को मज़दूर वर्ग के काडर आधारित आन्दोलन के नेतृत्व में जनप्रतिरोध के रास्ते ही हराया जा सकता है

– श्रवण यादव रतलामी

ये समझना ज़रूरी है कि "फ़ासीवाद" महज़ दक्षिणपन्थी ताक़तों या अपने अन्य विरोधियों के लिए विशेषण या गाली के रूप में इस्तेमाल होने वाली भड़ास वाली चलताऊ शब्दावली नहीं है, बल्कि राजनीतिक अर्थशास्त्र में इस्तेमाल होने वाली एक क्लासिकीय शब्दावली है। "फ़ासीवाद" का अर्थ है वित्तीय पूँजी की निरंकुश तानाशाही, उसका काडर आधारित सामाजिक आन्दोलन, व जिसका आधार मुख्यतः टटपुँजिया वर्ग और मध्यवर्ग के बीच होता है, व इसके अलावा मज़दूर वर्ग के एक छोटे से हिस्से के बीच भी मौजूद होता है।

इसीलिए फासिज़्म को मज़दूर वर्ग के काडर आधारित आन्दोलन के नेतृत्व में होने वाले जनप्रतिरोध के रास्ते ही पराजित किया जा सकता है, न कि सोशल इंजीनियरिंग के अवसरवादी जुगाड़ों से या फिर चुनाव के महज़ चंद हफ़्ते/महीने पहले अवतरित होकर जनता से किए जाने वाले हवा हवाई वायदों से। फ़ासिस्टों का आन्दोलन ज़मीन पर अनवरत जारी रहता है भले ही उनकी सत्ता रहे या न रहे, अपनी शाखाओं, मंडलियों, यूथ क्लबों, सरस्वती शिशु मंदिरों के रूप में, राम मंदिर आन्दोलन, गौ रक्षा आन्दोलन, उग्र राष्ट्रवादी गोलबन्दी, अल्पसंख्यक विरोधी विद्वेष, स्वदेशी जागरण मंच आदि के रूप में, देशभर में कार्यरत संघ के दर्जनों अनुषांगिक संगठनों के द्वारा। इस आन्दोलन का चरित्र घोर ब्राह्मणवादी और स्त्रीद्वेषी है, लेकिन फिर भी इस आन्दोलन की जड़ें पिछड़ी व दलित जातियों, आदिवासियों और स्त्रियों तक भी पहुँच बना चुकी हैं। ऐसे फ़ासिस्ट आन्दोलन को हराने के लिए जिस फ़ासीवाद विरोधी काडर आधारित आन्दोलन की दरकार है उसकी उम्मीद फलाना जाति या ढिमका मज़हब या फलाना सम्प्रदाय के वोटों की ठेकेदारी के भरोसे रहने वाले संगठनों और नेताओं से की ही नहीं जा सकती।

पिछली एक सदी के भीतर जिन जिन देशों में फ़ासिस्ट आन्दोलन का विस्तार हुआ, वहाँ उनके विरुद्ध हुए सफल/असफल प्रतिरोधों से हमें यह सीख तो मिलती ही है कि चुनावी जुगाड़ या सोशल इंजीनियरिंग के भरोसे रहकर फासिज़्म का बाल भी बांका नहीं हो सका है। मज़दूर वर्ग का काडर आधारित संगठन, मेहनतकश तबक़ों के जीवन से जुड़े असली मुद्दों पर खड़ा आन्दोलन, मेहनतकश वर्ग की सामाजिक संस्थाओं का निर्माण, व सड़कों पर फ़ासिस्ट गुंडावाहिनियों के विरुद्ध सतत् जुझारू जनप्रतिरोध खड़ा करके ही फ़ासिज़्म को पराजित किया जा सकता है। एक छोटे से उदाहरण के रूप में लें तो बिहार सहित पूरे देश में बेरोज़गारी ऐतिहासिक स्तर पर है, और यह रोज़गार का संकट व्यवस्था का ढाँचागत संकट है। ये जनता का एक जेन्युइन मुद्दा है जो सीधे-सीधे उसके सर्वाइवल से जुड़ा है। सोचिए जो भीड़ चुनाव के चंद हफ़्तों पहले किए जाने वाले दस लाख नौकरियों के वादे पर भारी संख्या में चुनावी रैलियों में स्वतःस्फूर्त उमड़ सकती है, यदि उस जनसमूह को बेरोज़गारी के मुद्दे पर, एक सतत् जनान्दोलन में मोबिलाइज़ किया जाये तो क्या ज़मीन पर फ़ासिस्टों के ख़िलाफ़ हवा भिन्न नहीं होगी? चुनावी वायदों से इतर, यदि उन्हें एक ऐसे आन्दोलन के लिए मोबिलाइज़ किया जाये जो हर नागरिक के लिए रोज़गार की माँग को मूलभूत संविधानिक अधिकार में शामिल करने जैसी ठोस माँग पर आधारित हो, और ऐसे आन्दोलन के रास्ते सत्ता की चूलें हिलाने का प्रयास किया जाये तो ज़मीन पर मौजूद फ़ासिस्ट आन्दोलन बेशक काउण्टर किया जा सकता है। और ये बस एक छोटा सा उदाहरण है, ऐसे अनेकों मुद्दे हैं जो आम जनता के जीवन में मुँह बाए खड़े हैं, और पूँजीवाद के आर्थिक संकट के इस दौर में जनता पर ऐतिहासिक विपदा बन कर टूट पड़े हैं। वित्तीय पूँजी इस आर्थिक संकट के ख़िलाफ़ होने वाले जनविद्रोह को कुचलने के लिए ही फ़ासीवादी आन्दोलन को पोषित करती है। पर इस आर्थिक संकट को राजनीतिक संकट में अभिव्यक्त करने व इससे जुड़े जनता के मुद्दों को आन्दोलन का रूप देने की असफल सी कोशिश भी ये तथाकथित विपक्षी पूँजीवादी पार्टियाँ नहीं करेंगी क्योंकि बेरोज़गारी, ठेका मज़दूरी, मिनिमम वेज, सार्वभौमिक स्वास्थ्य जैसे मुद्दे आज पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचागत मुद्दे हैं और इन पर होने वाले आन्दोलन संसद विधानसभा की तमाम पक्ष-विपक्ष की पूँजीवादी पार्टियों के वर्ग हितों के विरुद्ध चले जाते हैं।

(फ़ेसबुक से साभार)

वैश्विक भूख सूचकांक : भारत में भूख से जूझता मेहनतकश

– प्रेम प्रकाश

दुनिया भर में भूख और कुपोषण के स्तर और हालात पर हर साल 'वैश्विक भूख सूचकांक' या 'ग्लोबल हंगर इण्डेक्स' नाम से एक रिपोर्ट निकाली जाती है। यह रिपोर्ट जर्मनी की 'वेल्ट हंगर हिल्फ़े' संस्था एवं आयरिश संस्था 'कंसर्न वर्ल्डवाइड' द्वारा संयुक्त रूप से हर साल अक्टूबर में निकाली जाती है। वैश्विक भूख सूचकांक रिपोर्ट में भूख के कई पहलुओं और उनसे सम्बन्धित आँकड़ों को आधार बनाकर एक संख्यात्मक इण्डेक्स या सूचकांक तैयार किया जाता है। इस आधार पर विभिन्न देशों के भूख के स्तर और उनके वरीयता क्रम को दर्शाया जाता है। इसमें विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर भूख, कुपोषण, पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों में कम वजन एवं लम्बाई तथा शिशु मृत्य दर को आधार बनाकर सूचकांक तैयार किया जाता है। यह भूख और कुपोषण के भयंकर स्तर को दर्शाता है और यह भी दिखाता है कि कैसे एक भारी आबादी को उचित भोजन और ऊर्जा की आवश्यक कैलोरी नहीं मिल पा रही है।

अक्टूबर 2020 में आयी वैश्विक भूख सूचकांक रिपोर्ट में यह बात सामने आयी है कि पूँजी की लूट से पूरी दुनिया में ही आबादी का एक बड़ा हिस्सा भूख से पीड़ित है। इस रिपोर्ट के अनुसार पिछले साल के अन्त तक दुनियाभर में लगभग 69 करोड़ लोग भूख से पीड़ित रहे जिसमें से 13.5 करोड़ लोग तो भयंकर रूप से भोजन की समस्या का सामना कर रहे थे। लगभग 14.40 करोड़ बच्चे कुपोषण के कारण अपनी उम्र से कम लम्बाई के रह गये जो कुल बच्चों की संख्या का 21.3 प्रतिशत है। साथ ही 4.7 करोड़ बच्चे ऐसे हैं जिनका वजन उनकी लम्बाई के अनुपात में कम है जो कुल संख्या का 6.9 प्रतिशत है; यह कुपोषण की गम्भीर स्थित को दर्शाता है। 2018 में 53 लाख बच्चे पाँच वर्ष की आयु पूरा करने से पहले ही मर गये। अफ़्रीका विशेषकर सहारा रेगिस्तान के दक्षिण का हिस्सा और दक्षिण एशिया जिसमें भारत भी स्थित है, दुनिया का वह हिस्सा है जहाँ भूख की स्थिति अत्यधिक भयंकर है। दुनियाभर में आबादी का 8.9 प्रतिशत हिस्सा कुपोषण का शिकार है।

वैश्विक भूख सूचकांक 2020 के अनुसार 107 देशों में भारत का स्थान 94वाँ है। आये दिन जनता को गुमराह करने के लिए लफ़्फ़ाजी करते हुए मोदी सरकार विकास और बदलाव की बात भर करती है जबकि इस रिपोर्ट के अनुसार पकिस्तान (88वाँ स्थान), म्यांमार (78वाँ स्थान), बांग्लादेश (75वाँ स्थान), नेपाल (73वाँ स्थान) और श्रीलंका (64वाँ स्थान) भारत से आगे हैं। हालाँकि इन देशों में भी मेहनतकशों की स्थिति अच्छी नहीं है, परन्तु रिपोर्ट के अनुसार तुलनात्मक रूप से यह भारत से ठीक स्थिति में हैं। इसी रिपोर्ट के अनुसार भारत में उन बच्चों की संख्या जिनका वजन लम्बाई के अनुपात में कम है 17.3 प्रतिशत है जोकि बहुत ही भयानक है। वैश्विक भूख सूचकांक तालिका के अनुसार भारत को 27.2 अंक मिले हैं जो 'गम्भीर श्रेणी' में आता है। रिपोर्ट के अनुसार भारत में कुल आबादी का 14 प्रतिशत हिस्सा ऐसा है जो कुपोषण का शिकार है। पाँच साल से कम उम्र के 34.7 प्रतिशत बच्चे अपनी उम्र के हिसाब से कम लम्बाई के (stunting) हैं। भारत में पाँच साल से कम उम्र के 3.7 प्रतिशत बच्चे मर जाते हैं। ये महज आँकड़े भर नहीं हैं, ये मेहनतकश आबादी की लगातार हो रही हत्याएँ हैं जो पूँजी की लूट और हुक्मरानों की जनविरोधी नीतियों का नतीजा हैं।

वैश्विक भूख सूचकांक 2020 की रिपोर्ट बताती है कि कोरोना महामारी की वजह से खाद्य पदार्थों एवं पौष्टिक आहार की स्थिति और भी बदतर हुई है तथा भविष्य में इसके भयंकर प्रभाव दिखाई देंगे। पूँजीवाद पहले से ही ढाँचागत संकट से जूझ रहा है और कोविड महामारी की वजह से आर्थिक मन्दी में हुए इज़ाफ़े के कारण पूरी दुनिया में लगभग 8 करोड़ और आबादी कुपोषण की चपेट में आ गयी है। रिपोर्ट बताती है कि सकल घरेलू उत्पाद में होने वाली गिरावट के कारण प्रति 1 प्रतिशत गिरावट पर पूरे विश्व में 7 लाख अन्य बच्चे भी उम्र की तुलना में छोटी लम्बाई के होंगे जो अत्यधिक कुपोषण की स्थिति होगी। भारत में इस वित्तीय वर्ष की पहली तिमाही में सकल घरेलू उत्पाद में 23.9 फीसदी की गिरावट दर्ज हुई है। इससे इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि भारत में ग़रीबों और मेहनतकशों के बच्चों की स्थिति कितनी भयंकर है। वैश्विक भूख सूचकांक की रिपोर्ट में कहा गया है कि विशेष रूप से समाज के वे लोग जिनकी स्थिति अत्यधिक खराब है और ग़रीब हैं उनके लिए कोविड महामारी और आर्थिक मन्दी के कारण भूख एवं भुखमरी की समस्या दोगुनी हो जायेगी।

भारत में भूख और कुपोषण की स्थिति पर भारत सरकार के आँकड़ों पर अगर नज़र डाली जाये तो स्थिति ऐसी ही नज़र आती है। नीति आयोग द्वारा भारत की 'राष्ट्रीय पोषण नीति' पर जारी पुस्तिका के अनुसार भारत में दुनिया के सर्वाधिक बच्चे हैं और यह पूरी दुनिया में बच्चों की आबादी का लगभग पाँचवाँ हिस्सा है। बच्चों और महिलाओं की आबादी भारत की कुल आबादी का लगभग 70 प्रतिशत है । राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण-4 के अनुसार भारत में 38.4 प्रतिशत बच्चे कम लम्बाई के; पाँच वर्ष से कम उम्र के 21 प्रतिशत बच्चे कम वजन के एवं कुल 35.7 प्रतिशत बच्चे कम वजन के हैं। देश में महिलाओं की कुल आबादी का 35.5 प्रतिशत कम वजन (Low BMI) एवं 55.3 प्रतिशत रक्त की कमी (एनीमिया) का शिकार हैं। भारत में पुरुषों की आबादी का 22.7 प्रतिशत हिस्सा ख़ून की कमी (एनीमिया) का शिकार है। राष्ट्रीय पोषण नीति पुस्तिका के अनुसार बाल मृत्य दर 50 प्रति हज़ार है। कहने के लिए मोदी सरकार द्वारा 'विज़न 2022'

(पेज 12 पर जारी)

अब "गुजरात मॉडल" से भी बर्बर "यूपी मॉडल" खड़ा करने की कोशिश में योगी आदित्यनाथ

(पेज 1 से आगे)

भी योगी आदित्यनाथ का यूपी मॉडल नये रिकॉर्ड बना रहा है।

हाथरस में बलात्कार पीड़ित लड़की और उसके परिवार के साथ जो किया गया, और उसके बाद विपक्षी दलों से लेकर पत्रकारों तक के साथ जिस तरह का बर्ताव पुलिस ने किया, वैसा किसी सरकार ने नहीं किया था। प्रदेश में रोज़ स्त्री-विरोधी बर्बर अपराधों की झड़ी लगी हुई है, मगर मुख्यमंत्री पूरे अहंकार के साथ दावे कर रहे हैं कि उनकी सरकार स्त्रियों की "रक्षा" कर रही है और मीडिया बेशर्मी से उनके बयानों और कई-कई पेज के विज्ञापनों को बिना किसी सवाल के छाप रहा है।

मुसलमानों को आतंकित करने और उनके असन्तोष की किसी भी आवाज़ पर सत्ता की पूरी ताक़त से टूट पड़ने का कोई मौक़ा उत्तर प्रदेश सरकार नहीं छोड़ रही है। डॉ. कफ़ील ख़ान को क़ानून को ताक पर रखकर महीनों तक जेल में रखा गया क्योंकि उन्होंने योगी के अपने शहर में बच्चों की मौत के लिए ऑक्सीजन सिलेण्डरों की कमी की बात उठायी थी। सीएए-एनआरसी क़ानूनों के ख़िलाफ़ प्रदर्शनों का सबसे बर्बर दमन उत्तर प्रदेश में किया गया और यह सिलसिला अब भी जारी है। अदालत के आदेश के बावजूद प्रदर्शनकारियों की सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गयी और क़ानून को ठेंगा दिखाकर उनके पोस्टर जगह-जगह लगाये जा रहे हैं। मुस्लिम नाम और इतिहास वाले शहरों और स्मारकों के नाम बदलने से लेकर 'लव जेहाद' जैसे आधारहीन मुद्दे को हवा देने वाले आदित्यनाथ ख़ुद को "हिन्दू हितों" के सबसे बड़े रक्षक के रूप में पेश करने का कोई मौक़ा नहीं छोड़ रहे हैं। जो शख़्स "एक के बदले सौ बेटियों को उठाने" जैसी बातें टीवी पर बोल चुका हो और जिसके मंच से "क़ब्र से मुस्लिम औरतों को निकालकर बलात्कार करने" जैसी बातें बोली जाती रही हों, उसके लिए यह महत्वाकांक्षा पालना कोई बड़ी बात नहीं है।

फ़ासिस्टों के लिए अपना लक्ष्य पूरा करने के वास्ते एक मोहरे को हटाकर दूसरा मोहरा ले आना कोई मुश्किल काम नहीं होता। जिस दिन संघ और उसके पीछे बैठे थैलीशाहों को लगेगा कि मोदी और उसकी मण्डली अब असर खो रही है और उन्हें "हिन्दू राष्ट्र" के अपने प्रोजेक्ट को आगे बढ़ाने के लिए ज़्यादा अगियाबैताल छवि वाले हिन्दुत्ववादी नेता की ज़रूरत है, उस दिन उन्हें ऐसा करने में देर नहीं लगेगी। संघ और उसके आक़ा भी जानते हैं कि सिर्फ़ हिन्दुत्व के सहारे सत्ता पर क़ब्ज़ा करना सम्भव नहीं, इसलिए "विकास" का ढिंढोरा पीटना भी ज़रूरी है।

जैसे मोदी जैसे नाकारा प्रशासक की छवि विकासपुरुष की बनायी गयी थी, उसी तरह अब योगी की छवि भी बनाने की कोशिश हो रही है। व्यवसायियों को राज्य में निवेश के लिए आमंत्रित करने के वास्ते तरह-तरह के आयोजन हो रहे हैं और तमाम श्रम क़ानूनों को स्थगित करके मज़दूरों को बेलगाम लूटने की छूट के आश्वासन उन्हें दिये जा रहे हैं। जैसाकि गुजरात में मोदी की सरकार ने किया था। इण्डिया टुडे लगातार तीन बार योगी को देश का सर्वश्रेष्ठ मुख्यमंत्री घोषित कर ही चुका है। कोई आश्चर्य नहीं कि आने वाले दिनों में पूँजीपतियों की ओर से उन्हें प्रधानमंत्री के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति भी घोषित कर दिया जाये।

एक नये उत्तर प्रदेश की छवि उभारी जा रही है – जहाँ अल्पसंख्यकों, दलितों, स्त्रियों, मेहनतकशों और विरोध करने वालों को सत्ता के लोहे के पंजे के नीचे दबाकर रखा जाता है, पर जो उद्योग-व्यापार के लिए बहुत अच्छी जगह है। आइए, शौक़ से पूँजी लगाइए, मनमर्ज़ी से मज़दूरों-कर्मचारियों को मनचाही मज़दूरी पर काम पर रखिए और जब चाहे निकाल बाहर कीजिए। कोई विरोध करे, तो उसे कुचलने के लिए पुलिस से लेकर नयी बन रही एस.एस.एफ़. तक आपके आदेश पर खड़ी हैं। पैसे दीजिए, और जिसे चाहिए उसे अन्दर करवाइए।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि गुजरात मॉडल कैसे खड़ा किया गया था।।

गुजरात दंगों के दस साल बाद, जिसमें क़रीब दो हज़ार (ज़्यादातर मुस्लिम) लोग मारे गये थे, कई लोगों को लगता था कि नरेन्द्र मोदी राजनीति में किनारे लगा दिये जायेंगे। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर तो थू-थू हो ही रही थी, भारत में भी अनेक पूँजीपति उनके सख़्त ख़िलाफ़ थे। कई देशों ने मोदी को वीज़ा देने से इन्कार कर दिया था, कुछ ने खुले तौर पर अमेरिका की तरह, दूसरों ने चुपचाप। मगर कुछ ही साल बाद, उनके राजनयिक गुजरात जाने लगे और गुजरात में निवेश पर चर्चा करने लगे थे।

आर्थिक संकट से जूझ रहे पूँजीपतियों को मोदी के ये आश्वासन लुभा रहे थे कि उन्हें जनता की मेहनत और प्राकृतिक संसाधनों की लूट की खुली छूट दी जायेगी। देशी पूँजीपतियों का रुख़ पहले ही बदलने लगा था। 2013 में हुए वाइब्रेण्ट गुजरात शिखर सम्मेलन में, कई बड़े कॉरपोरेट समूहों के मालिक नरेन्द्र मोदी की तारीफ़ के पुल बाँध रहे थे और उन्हें प्रधानमंत्री के सबसे अच्छे दावेदार के रूप में पेश कर रहे थे। मुकेश अम्बानी ने कहा, "उनके पास एक भव्य विज़न है; वह महात्मा गांधी और सरदार पटेल की तरह हैं।" अनिल अम्बानी ने घोषित कर दिया कि गुजरात भारत में सबसे अधिक निवेशक-हितैषी राज्य था और इसका श्रेय श्री मोदी को है। रतन टाटा भी मंच पर तालियाँ बजाने वालों में थे जिनकी नैनो कार के कारख़ाने के लिए गुजरात सरकार ने जनता की गाढ़ी कमाई के अरबों लुटा दिये थे।

अब मोदी ने राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं को खुलकर प्रकट करना शुरू कर दिया था। जनता के एक बड़े हिस्से के बीच उनकी लोकप्रियता बढ़ रही थी जो उनके बारे में केवल अच्छी बातें सुन रहे थे – गुजरात में सुन्दर सड़कें हैं, बिजली कटौती नहीं होती और शान्ति और सुरक्षा है। इस बात को गोल कर दिया गया था कि वहाँ मुसलमानों को किस क़दर ज़ुल्म और भेदभाव का शिकार बनाया गया है। मज़दूरों का शोषण और दमन कितना भीषण है और ग़रीबी की क्या हालत है।

गुजरात में न्यायपालिका से लेकर पुलिस महक़मे, शिक्षा से लेकर नौकरशाही के पूरे ढाँचे का बहुत योजनाबद्ध ढंग से साम्प्रदायीकरण किया गया और नीचे से लेकर ऊपर तक संघ के लोगों या वैसी ही मानसिकता वाले लोगों को भर दिया गया। वही मॉडल मोदी के शासन में पूरे देश में लागू किया जा रहा है और इसे ही पूरी ताक़त से उत्तर प्रदेश में लागू किया जा रहा है। उत्तर प्रदेश पुलिस और पीएसी में पहले से ही साम्प्रदायिकता का वायरस फैला हुआ था, भाजपा राज में यह बेहद घातक बन चुका है। हाथरस से लेकर सीएए-एनआरसी विरोधी आन्दोलन के दमन की घटनाएँ आने वाले दिनों की बानगी भर हैं। फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में दलितों-मुसलमानों को मारने की छूट सीधे मुख्यमंत्री से पुलिस को मिली हुई है।

आज उत्तर प्रदेश में बेरोज़गारी चरम पर है, स्वास्थ्य सेवाओं की हालत भयंकर है, कोरोना ने करोड़ों ग़रीबों के सामने रोज़ी-रोटी का संकट खड़ा कर दिया है, स्त्रियों की सुरक्षा और सम्मान पर रोज़ हमले हो रहे हैं, मगर इस "रामराज्य" का शासक अयोध्या में करोड़ों रुपये फूँककर दिये जला रहा है क्योंकि उसे लगता है कि हिन्दुत्व के सबसे उग्र नेता के रूप में उसकी छवि और उद्योग-व्यापार के मालिकों का समर्थन ही काफ़ी है। **गुजरात मॉडल वाले नेता के कारनामे देश का मेहनतकश देख चुका है, क्या वह इस यूपी मॉडल के सहारे शुरू किये जा रहे विनाशकारी प्रोजेक्ट को चुपचाप पूरा होने देगा, या उसे ध्वस्त करने के लिए आगे बढ़ेगा?**

चुनावी रणनीति तक सीमित रहकर फ़ासीवाद को हराया नहीं जा सकता!

(पेज 1 से आगे)

राजनीतिक तौर पर अन्धा हो चुका है, जो भूल चुका है कि **आर्थिक संकट के दौर में ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टियों और संशोधनवादी पार्टियों के पापों के नतीजे के तौर पर ही एक धुर दक्षिणपन्थी पूँजीवादी व टटपुँजिया प्रतिक्रिया के तौर पर फ़ासीवादी उभार होता है। केवल असुधारणीय सुधारवाद और संशोधनवाद की शिकार संसदीय वामपन्थी पार्टियाँ ही ये ग़लतफ़हमी जनता के बीच पैदा कर सकती हैं कि कांग्रेस, राजद, आदि से तालमेल करके चुनावी तौर पर भाजपा को हरा देने का अर्थ फ़ासीवाद को हराना होगा।** 2004 में जब भाजपा लोकसभा चुनाव हार गयी थी तो भी संसदीय वामपन्थियों ने इसी तरह के दावे किये थे। उसके बाद जब 2009 में भाजपा दोबारा लोकसभा चुनाव हारी तो भी तमाम लिबरलों व संसदीय वामपन्थियों ने इसी प्रकार के दावे किये थे। लेकिन 2008 में वैश्विक मन्दी की शुरुआत और 2010-11 तक उसके प्रभाव के भारतीय अर्थव्यवस्था पर पहुँचने के साथ ही भारत के पूँजीपति वर्ग के सामने भी मुनाफ़े की गिरती दर का संकट पैदा हो चुका था और उसे फ़ासीवादी भाजपा और मोदी जैसे "मज़बूत नेता" की ज़रूरत महसूस होने लगी थी। 2011 से ही भारत के पूँजीपति वर्ग ने मोदी के पक्ष में एकजुट होना, उसे आर्थिक तौर पर पूरी मदद पहुँचाना और अपने मीडिया के ज़रिये मोदी के पक्ष में राय बनाना शुरू कर दिया था। नतीजतन, 2014 में मोदी अभूतपूर्व बहुमत के साथ सत्ता में पहुँचा और 2019 में यह बहुमत और भी विस्तारित हो गया। 2024 में अगर मोदी चुनाव हार भी जाता है, जिसकी गुंजाइश अभी कम ही दिखती है, और भाजपा की जगह किसी प्रकार का कांग्रेस-नीत मोर्चा या कोई संयुक्त मोर्चा सरकार बनाता है, तो वह फ़ासीवाद की निर्णायक हार नहीं होगी। उल्टे होगा यह कि ऐसी सरकार की नीतियाँ संकटग्रस्त पूँजीपति वर्ग को उसके संकट से निजात नहीं दिला पायेंगी। गहराते संकट में मज़दूरों, मेहनतकशों, आदिवासियों, स्त्रियों, अल्पसंख्यकों, दलितों आदि के आर्थिक और सामाजिक हक़ों पर हमला कर संकट से कुछ राहत पाने के लिए भारत के टाटा, बिड़ला, अम्बानी, अडानी आदि बड़े पूँजीपति वर्ग को फिर से एक "मज़बूत नेतृत्व" की ज़रूरत पड़ेगी और एक बार फिर अपनी अकूत पूँजी के अभूतपूर्व समर्थन से किसी मोदी या उससे भी ज़्यादा पाशविक और बर्बर फ़ासीवादी नेता, जैसे कि योगी को सत्ता में पहुँचाने की लहर पैदा की जायेगी।

इसलिए चुनावों में यदि फ़ासीवादी पार्टी हार भी जाये, तो उसे फ़ासीवाद की हार समझने की भूल करना मज़दूर वर्ग के लिए आत्मघाती होता है। यही भूल तमाम संशोधनवादी पार्टियाँ कर रही हैं। हालाँकि महागठबन्धन बनाकर भी बिहार विधानसभा चुनावों में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन को हराया नहीं जा सका। बावजूद इसके कि बिहार में प्रवासी मज़दूरों की लॉकडाउन के दौरान लाखों की संख्या में वापसी हुई थी, उन्हें अपने राज्य में कोई रोज़गार नहीं मिला था, उन्हें भयंकर तकलीफ़ और किल्लत के दिन देखने पड़े थे और अन्तत: कोरोना संकट के माहौल में ही वापस शहरों की ओर पलायन करना पड़ा था और इस वजह से उनमें काफ़ी ग़ुस्सा भी था। इसके कई कारण थे, जिन्हें तभी समझा जा सकता है जबकि एक फ़ासीवादी पार्टी के तौर पर भाजपा और उसके पीछे खड़े टटपुँजिया वर्गों के प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के चरित्र को समझा जा सके।

पहली बात तो यह कि **भाजपा के पीछे संघ परिवार का एक संगठित काडर ढाँचा खड़ा है। यह ढाँचा केवल चुनावों के दौरान सक्रिय नहीं होता, बल्कि यह फ़ासीवादी विचारधारा से प्रेरित है और एक स्वचालित यंत्र के समान लगातार काम करता रहता है। इस ढाँचे ने देशभर में छोटी-छोटी शाखाओं से लेकर स्कूलों, अस्पतालों, व तमाम सुधार की संस्थाओं के रूप में संस्थाओं का एक पूरा तानाबाना खड़ा किया है। इसके अलावा, बजरंग दल, दुर्गा वाहिनी, विश्व हिन्दू परिषद के रूप में इनके पास आतंक फैलाने की अपनी ब्रिगेड्स हैं, जो समाज में सतत् सक्रिय रहती हैं और आर्थिक व सामाजिक असुरक्षा झेल रहे निम्न मध्य वर्ग के युवाओं के ग़ुस्से और प्रतिक्रिया को मुसलमानों, दलितों, कम्युनिस्टों आदि के रूप में एक नकली शत्रु मुहैया कराती हैं और इसी नकली शत्रु के विरुद्ध उन्हें इकट्ठा करती हैं। यह जो पूरा सांगठनिक ढाँचा है, यह फ़ासीवादी संघ परिवार और भाजपा की सबसे बड़ी शक्ति है और इसे परास्त करने का काम किसी चुनावी जीत के ज़रिये हो ही नहीं सकता और एक बार जब यह ढाँचा अपने आपको सत्ता में सुदृढ़ीकृत कर लेगा, तो साम, दाम, दण्ड, भेद से यह सत्ता में टिके रहने का रास्ता भी निकाल लेगा और इसे चुनावों में हरा पाना भी मुश्किल होता जायेगा।** अगर अगले लोकसभा चुनावों में मोदी सरकार की हार भी होती है, तो यह फ़ासीवाद के अगले ज़्यादा आक्रामक दौर की पूर्वपीठिका ही तैयार करेगा, ठीक उसी प्रकार, जैसे वाजपेयी सरकार के बाद संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार के दो कार्यकालों ने मोदी के उभार की पूर्वपीठिका तैयार की थी।

दूसरी बात जिसे समझना यहाँ ज़रूरी है वह यह है कि **संघ परिवार और भाजपा के पीछे टटपुँजिया वर्गों का एक पूरा प्रतिक्रियावादी आन्दोलन खड़ा है। ये निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग भाजपा और संघ परिवार की ओर क्यों आकर्षित होते हैं, जबकि भाजपा सरकार की नीतियाँ इन्हें ही उजाड़ने का काम करती हैं? इसकी वजह यह है कि ये वे वर्ग हैं, जो कि संकट के दौर में न तो पूरी तरह आबाद होते हैं और न ही पूरी तरह बर्बाद। इनका एक हिस्सा उजड़कर मज़दूरों-मेहनतकशों की क़तारों में शामिल होता है, लेकिन एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा मज़दूर तो नहीं बनता, मगर उसके सिर पर मज़दूर बनने का ख़तरा हमेशा मँडराता रहता है। उसके सामने एक सामाजिक और आर्थिक असुरक्षा और अनिश्चितता लगातार मौजूद रहती है। यह असुरक्षा और अनिश्चितता उसके भीतर एक अन्धी प्रतिक्रिया पैदा करती है क्योंकि वह यह नहीं समझता कि इसके पीछे मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था और उसका संकट है। अपनी वर्ग प्रवृत्ति से वह मज़दूर वर्ग से दूरी महसूस करता है और उसका सपना अधिक धनी और पूँजीपति बनने का होता है। बल्कि कहना चाहिए कि मज़दूर बन जाना उसका सबसे भयावह दु:स्वप्न होता है। ऐसे में, इन वर्गों की अन्धी प्रतिक्रिया को संघ परिवार मुसलमानों या किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में एक नकली दुश्मन देता है** और बताता है कि, मिसाल के तौर पर, "चौदह करोड़ मुसलमान मतलब चौदह करोड़ बेरोज़गार हिन्दू", इत्यादि (मानो, सभी मुसलमानों को रोज़गार प्राप्त हो! जबकि सच्चाई यह है कि बेरोज़गारी की दर मुसलमानों के बीच कहीं ज़्यादा है); उनके भीतर एक नकली भय पैदा किया जाता है कि मुसलमान न सिर्फ़ उनके आर्थिक भविष्य के लिए ख़तरा हैं, बल्कि उनके धर्म, उनकी 'संस्कृति', उनकी सभ्यता आदि के लिए भी ख़तरा हैं! यहाँ तक कि यह भय भी फैलाया जाता है कि मुसलमान उनकी "बहू-बेटियों" के लिए भी ख़तरा हैं! अनिश्चितता और असुरक्षा से थका हुआ टटपुँजिया दिमाग़ तर्क करने और इस प्रचार के झूठ को समझ पाने में असमर्थ होता है और उसकी अन्धी प्रतिक्रिया और हताशा को एक निशाना मिल जाता है और उसकी प्रतिक्रिया उसके ऊपर ही फूट पड़ती है। विडम्बना की बात है कि टटपुँजिया वर्गों की यह प्रतिक्रिया उनके भी हितों के विपरीत होती है और बड़ी इज़ारेदार पूँजी के हितों को फ़ायदा पहुँचाती है। लेकिन **यह प्रतिक्रिया अन्धी प्रतिक्रिया ठीक इसीलिए तो कहलाती है। इसके अलावा, मध्यवर्गों व उच्च मध्यवर्गों में ही एक हिस्सा छोटे पूँजीपतियों, मालिकों, ठेकेदारों, धनी किसानों, सूदखोरों, आदि का भी है, जोकि मज़दूर वर्ग का किसी भी टाटा, बिड़ला, अम्बानी, अडानी से ज़्यादा बेरहमी से शोषण करते हैं। मज़दूर वर्ग के साथ इनका तीखा अन्तरविरोध इन्हें फ़ासीवादी प्रतिक्रिया की ओर ले जाता है।** निश्चित तौर पर, फ़ासीवादी भाजपा और संघ परिवार मुख्यत: बड़ी इज़ारेदार पूँजी की सेवा करते हैं, लेकिन वे मज़दूर वर्ग के हक़ों को छीनने, उनके आन्दोलन को कुचलने और पूँजी के सामने उन्हें कमज़ोर और अशक्त बनाने का काम भी करते हैं, जो कि छोटी और मँझोली पूँजी को भी फ़ायदा पहुँचाता है। इसलिए छोटे पूँजीपति वर्ग को भी अपनी वजहों से एक "मज़बूत नेतृत्व" की ज़रूरत महसूस होती है जो कि तानाशाहाना तरीक़े से मज़दूरों का दमन कर सके। इन्हीं टटपुँजिया वर्गों के बूते फ़ासीवादी संघ परिवार के पीछे एक पूरा संगठित प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा है, जोकि हर चुनाव में या ग़ैर-चुनावी कार्य में उसके पीछे खड़ा होता है, और इसके कई हिस्से स्वयं बेरोज़गारी, महँगाई की मार झेलने के बावजूद अपनी प्रतिक्रिया और अल्पसंख्यकों के प्रति नफ़रत से संचालित होकर संघ परिवार व भाजपा का ही समर्थन करते हैं। इसी प्रक्रिया में तथाकथित ऊँची जातियों के मध्यवर्ग व निम्न मध्यवर्ग की प्रतिक्रिया को भी फ़ासीवादी अपने पक्ष में खड़ा करते हैं और दलितों व मुसलमानों के ख़िलाफ़ उसका इस्तेमाल करते हैं।

तीसरा कारण वह कारक है, जिसके बिना उपरोक्त दो कारक भी हरकत में नहीं आ सकते हैं। यह कारक है भारत के समूचे बड़े इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग का भाजपा, संघ परिवार और मोदी-शाह को लगभग एकमत समर्थन। कोरोना संकट के पहले से ही भारतीय अर्थव्यवस्था संकट में घिरी हुई थी। मार्च 2020 में बिना किसी योजना और तैयारी के लागू हुए लॉकडाउन ने इसकी कमर पूरी तरह से तोड़कर रख दी जबकि कोरोना महामारी पर क़ाबू पाने में भी मोदी सरकार बुरी तरह असफल रही। इन सभी कारकों ने आर्थिक संकट को अभूतपूर्व रूप से गम्भीर बना दिया। सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) की दर पहली बार शून्य के क़रीब पहुँच गयी। आर्थिक वृद्धि में 24 प्रतिशत की गिरावट आ गयी। इसका अर्थ क्या था? इसका अर्थ हम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए यह था कि मुनाफ़े की दर के अभूतपूर्व रूप से गिरने के कारण पूँजीपति वर्ग द्वारा वास्तविक उत्पादक अर्थव्यवस्था में निवेश बेहद कम हो गया, जिसका नतीजा छँटनी-तालाबन्दी और भयंकर बेरोज़गारी के रूप में सामने आया। कोरोना संकट की शुरुआत के बाद से क़रीब 8 करोड़ लोग अपनी नौकरियों से हाथ धो चुके हैं। पूँजीपति वर्ग को मोदी सरकार ने इस दौर में भी तरह-तरह की सौग़ातें देकर संकट के असर को उस पर कम करने का प्रयास किया, लेकिन इन सबके बावजूद पूँजीपति वर्ग अभी संकट के बोझ तले कराह ही रहा है। निश्चित तौर पर, कुछ इज़ारेदार घरानों को इस दौर में भी सट्टेबाज़ी, सरकार द्वारा मिली छूट, जनता की सम्पत्तियों व प्राकृतिक सम्पदा को कौड़ियों के दाम सौंपे जाने और ऑनलाइन ट्रेडिंग आदि से काफ़ी मुनाफ़ा हुआ, लेकिन समूचे पूँजीपति वर्ग की बात की जाये, तो वह घाटे और संकट की मार झेल रहा है। ऐसे में, पूँजीपति वर्ग को फ़ासीवादी भाजपा और संघ परिवार के सत्ता में बने रहने की ज़रूरत है और वह एक स्वर में मोदी के पीछे खड़ा है। यही कारण है कि हर चुनाव में भाजपा के पास आर्थिक संसाधनों का ऐसा अम्बार होता है कि सारी चुनावी प्रक्रिया को प्रभावित करना, प्रचार पर हज़ारों करोड़ बहाकर, वोटरों के बीच करोड़ों रुपये बाँटकर और प्रशासन में अपनी गोटियाँ बिठाकर चुनावों में जीत हासिल करने के लिए वह हमेशा बेहतर स्थिति में होती है। बिहार के विधानसभा चुनावों में भी भाजपा की सीटें 2015 के मुक़ाबले बढ़ने का एक अहम बुनियादी कारण पूँजीपति वर्ग का यह समर्थन भी रहा है। निश्चित तौर पर, 2019 के लोकसभा चुनावों की तुलना में भाजपा का वोट प्रतिशत घटा है, लेकिन सभी जानते हैं कि लोकसभा चुनावों व विधानसभा चुनावों में एक ही तर्क काम नहीं करता है।

ये तीन कारण हैं, जिनके चलते भाजपा और संघ परिवार ने देश के भयंकर आर्थिक हालात, विकराल बेरोज़गारी और कमरतोड़ महँगाई के बावजूद, उस हद तक वोटरों का आक्रोश नहीं झेला, बल्कि साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण, राम मन्दिर आदि के नाम पर वोटों की एक फ़ासीवादी गोलबन्दी करने में सफल रहे।

लेकिन यदि भाजपा इन चुनावों में हार भी जाती, तो क्या उसे संघी फ़ासीवाद की निर्णायक हार माना जाता, या उसे राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन के रथ को रोक लिया जाना माना जा सकता था? नहीं! यह ग़लतफ़हमी ही है, जिसके कारण तमाम प्रगतिशील बुद्धिजीवी भी बिहार में संसदीय वामपन्थ और तेजस्वी यादव के राजद के बीच हुए गठबन्धन को सराह रहे थे और ये उम्मीद लगाये बैठे थे कि भाजपा चुनाव हार जायेगी। वैसे तो ये उम्मीदें ही खोखली साबित हुईं लेकिन अगर भाजपा इन विधानसभा चुनावों में हार भी जाती, तो आगे चलकर पहले से भी ज़्यादा आक्रामक फ़ासीवादी उभार की ही ज़मीन तैयार

(पेज 9 पर जारी)

पूँजीवादी और संशोधनवादी चुनावबाज़ पार्टियों का गठबन्धन मेहनतकशों-मज़दूरों के पक्ष की नुमाइन्दगी नहीं कर सकता!

(पेज 8 से आगे)

होती। क्यों? इसके कारणों पर थोड़ा विचार करना ज़रूरी है।

संघ परिवार और भाजपा का फ़ासीवादी उभार हुआ ही क्यों था? राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना तो 1925 में हुई थी, लेकिन एक शक्तिशाली प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन के तौर पर वह 1985-86 में ही अस्तित्व में आता है। उससे पहले छह दशकों तक संघ परिवार चुपचाप समाज में अपनी संस्थाओं का तानाबाना खड़ा करता है, राज्यसत्ता के उपकरण में, जैसे कि सेना, पुलिस, नौकरशाही और यहाँ तक कि न्यायपालिका में घुसपैठ करता है, लेकिन अभी भी संघ परिवार को बनियों/व्यापारियों-दुकानदारों का ही संगठन माना जाता था। व्यापक जनसमुदायों में, यानी समूचे निम्न मध्यवर्ग व मध्यवर्ग में और लम्पट सर्वहारा वर्ग में अपनी गहरी पकड़ 1980 के दशक तक संघ परिवार नहीं बना पाया था। 1970 के दशक से ही भारतीय पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद सन्तृप्ति बिन्दु पर पहुँच रहा था और ठहराव और संकट का शिकार हो चुका था। यह संकट 1980 के दशक के शुरू होने के ठीक पहले और ठीक बाद के वर्षों में और फिर 1980 के दशक के अन्तिम वर्षों में काफ़ी गम्भीर रूप में प्रकट होने लगा था। यही वह दौर था जबकि एक ओर पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग की लूट में लगी सभी बाधाओं को हटाने, हर प्रकार के सरकारी नियंत्रण व विनियमन से छुटकारा पाने के लिए बेताब हो रहा था, और यही वह समय था जबकि 40 वर्षों के पूँजीवादी विकास के बाद टटपुँजिया वर्ग का निम्नतर हिस्सा संकट के कारण उजड़ रहा था जबकि टटपुँजिया वर्गों का ऊपरी हिस्सा सरकारी विनियमन, जिसे कि राजीव गांधी ने इंसपेक्टर राज-लाइसेंस राज-कोटा राज की संज्ञा दी थी, से छुटकारा चाहता था और बड़ा पूँजीपति बनने के सपने पाले बैठा था। अलग-अलग कारणों से ये सभी वर्ग पुराने पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद के संकट से नाराज़ और असन्तुष्ट थे। इन्हीं वर्गों के अस्पष्ट असन्तोष और अन्धी प्रतिक्रिया को राम जन्मभूमि आन्दोलन ने एक मक़सद दिया, एक अभिव्यक्ति दी, एक नक़ली दुश्मन दिया और इस प्रकार संघ परिवार एक प्रतिक्रियवादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में उभरा। शुरू में इसे स्वदेशी का राग गाने की आवश्यकता थी, सो इसने गाया, लेकिन बड़े पूँजीपति वर्ग को इससे कोई ग़लतफ़हमी नहीं थी और वह जानता था कि इस फ़ासीवादी शक्ति को पालने-पोसने का फ़ायदा ही हुआ है और आगे भी होगा और जब ज़रूरत पड़ेगी तो इसे सत्ता में पहुँचाने का भी फ़ायदा ही होगा।

यानी फ़ासीवाद का भारत में उभार शुरू ही पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद के आर्थिक व राजनीतिक संकट से हुआ था। यह तब तक का खोखला कल्याणवाद और दिखावटी सुधारवाद ही था, जिसका ख़र्च संकट के दौर में पूँजीपति वर्ग उठाने को तैयार नहीं था और इसीलिए फ़ासीवादी संघ परिवार और उसके आन्दोलन को उसने प्रश्रय दिया। यही वह दौर था जब टटपुँजिया वर्ग के ऊपरी और निचले हिस्से अपने-अपने कारण से असन्तुष्ट थे, एक सरकारी विनियमन के कारण और दूसरा उजड़ने या उजड़ने के ख़तरे के कारण। इन वर्गों ने भी अपने भय और असुरक्षा में संघ परिवार को समर्थन दिया और उसका सबसे मज़बूत सामाजिक आधार बना।

1991 में नवउदारवादी नीतियों का आरम्भ कांग्रेस सरकार करती है। उसके बाद निजीकरण व उदारीकरण की प्रक्रिया को कांग्रेस पाँच वर्षों तक चलाती है, जिसमें कई पब्लिक सेक्टर कम्पनियाँ बेची जाती हैं, सरकारी विनियमनों को कम किया जाता है, पुराने राजकीय नियंत्रण को क्रमिक प्रक्रिया में हटाया जाता है। 1996 से 1998 का दौर संयुक्त मोर्चे की सरकारों का रहा, जिसमें यह उदारीकरण की प्रक्रिया अपेक्षाकृत कम रफ़्तार से जारी ही रही। 1997-98 में एशियाई टाइगर कहे जाने वाले दक्षिण-पूर्वी एशिया की कई मॉडल पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के धराशायी होने का असर पूरी दुनिया और भारत की अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा। इसी दौर में, वाजपेयी सरकार के रूप में भाजपा पहली बार केन्द्र में सरकार बनाती है, हालाँकि अपने दम पर नहीं। वाजपेयी सरकार के लगभग छह साल में भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए संघ परिवार हरसम्भव काम करता है। एक विनिवेश मंत्रालय बनाकर जनता की गाढ़ी कमाई से खड़े किये गये तमाम उद्योगों को निजी पूँजीपतियों को कौड़ियों के दाम बेचा गया। 2002 में वाजपेयी सरकार ने श्रम क़ानूनों को बर्बाद करने के लिए श्रम आयोग स्थापित किया, लेकिन उसके पहले ही वाजपेयी सरकार ने श्रम क़ानूनों की "बाधा" को पूँजीपतियों के रास्ते से हटाने की शुरुआत कर दी थी। उदारीकरण की प्रक्रिया को और भी तेज़ करते हुए अन्य प्रकार के विनियमनों से भी पूँजीपति वर्ग को वाजपेयी के शासन के दौरान छूट दी गयी। छह वर्षों में वाजपेयी सरकार ने वह काम "मज़बूती" से किया जिसके लिए पूँजीपति वर्ग ने उसे सत्ता में पहुँचाया था। इसी बीच नरेन्द्र मोदी ने गुजरात दंगों के दौरान मुसलमानों के राज्य-प्रायोजित नरसंहार को भी अंजाम दिया, जिसने कि धुर दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया के लिए एक नया 'पोस्टर बॉय', 'हिन्दू हृदय सम्राट' और भावी नेता पैदा कर दिया था। गुजरात में अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ फ़ासीवादी आतंक फैलाने के अलावा, मज़दूरों के हर आन्दोलन को बर्बरता से कुचलने और पूँजीपतियों के लिए पूरे गुजरात को लूट का खुला चरागाह बनाने में भी गुजरात की मोदी सरकार नये प्रतिमान क़ायम कर रही थी।

यहाँ भी हम देख सकते हैं कि यह आर्थिक संकट, छोटे मिल्कियों का उजड़ना, निम्न मध्यवर्ग व मध्यवर्ग का अधिक असुरक्षा और अनिश्चितता में जाना ही था, जिसने फ़ासीवादियों की गठबन्धन सरकार को सत्ता में पहुँचाया।

वाजपेयी सरकार के छह वर्षों के निजीकरण और उदारीकरण की आँधी ने तेज़ी से बेरोज़गारी और महँगाई को बढ़ावा दिया। साथ ही सन 2000 से 2002-3 का समय एक नयी वैश्विक मन्दी का दौर था। इसका भी असर भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ना ही था और पड़ा भी। नतीजतन, अलोकप्रियता के कारण भाजपा 2004 का चुनाव हार गयी। 2004 से 2009 तक का दौर पहली संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार का था जब नवउदारवादी नीतियों को जारी रखते हुए, उसकी रफ़्तार कुछ कम की गयी, और साथ ही उसमें कल्याणवाद और सुधारवाद का मिश्रण भी किया गया। कल्याणवाद और सुधारवाद को मिश्रित करने में मुख्य योगदान माकपा और भाकपा का था जो कि कांग्रेस की संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार को समर्थन दे रहे थे। इन्हीं की राय और सलाह से मनमोहन सिंह सरकार ने ग़रीबों को मूर्ख बनाने के लिए और दिखावटी कल्याणवाद और सुधारवाद करने के क़दम उठाये जैसे कि सामाजिक सुरक्षा क़ानून, शिक्षा का अधिकार, सूचना का अधिकार और मनरेगा। इन सब नीतियों का दिखावटी चरित्र आज देश की मेहनतकश जनता के सामने है। मनरेगा जैसी नीति इसलिए भी ज़रूरी थी क्योंकि गाँवों से शहरों की ओर प्रवास की गति और दर पर कुछ नियंत्रण करना था और मनरेगा ने कम-से-कम कुछ राज्यों में यह किया भी। लेकिन वास्तव में इसने गाँवों में बेरोज़गारी पर कोई ख़ास असर नहीं डाला। यह भुखमरी के स्तर पर गाँव के ग़रीबों को ज़िन्दा रखने और गाँवों में रोके रखने का एक क़दम था।

लेकिन 2008 में वैश्विक संकट की शुरुआत हुई और 2011-2012 तक भारतीय अर्थव्यवस्था भी संकट के भँवर में प्रवेश कर चुकी थी। संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार का दूसरा कार्यकाल इस समय चल रहा था। लेकिन अब कांग्रेस और संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन भारत के पूँजीपति वर्ग के लिए अधिक से अधिक अप्रासंगिक होते जा रहे थे। पूँजीपति वर्ग के विभिन्न धड़ों के बीच संकट के दौर में अन्तरविरोध बढ़ रहे थे। इस दौर में हुए भ्रष्टाचार और घोटालों की घटनाओं के पीछे यह आर्थिक संकट भी था, जो कि दिखला रहा था कि संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार समूचे पूँजीपति वर्ग के वर्ग हितों का सामूहिकीकरण नहीं कर पा रही थी और इन सामूहिक पूँजीवादी वर्ग हितों को "राष्ट्रीय हितों" के तौर पर जनता के सामने पेश नहीं कर पा रही थी। पूँजीपति वर्ग के धड़ों के बीच दरारें जनता के सामने भ्रष्टाचार और घपलों के रूप में भी प्रकट हो रही थीं। पूँजीपति वर्ग को इस समय एक अलग क़िस्म की राजनीतिक नुमाइन्दगी और नेतृत्व की आवश्यकता थी, जो अधिक कठोर हाथों से बचे-खुचे श्रम क़ानूनों को भी बेअसर कर सके और मज़दूरों के हर प्रकार के प्रतिरोध को कुचल सके, जो कि प्राकृतिक सम्पदा को आदिवासियों के प्रतिरोध को और भी बर्बरता से कुचलकर कारपोरेट घरानों के हवाले कर सके, जो हर सामाजिक व आर्थिक रूप से शोषित-उत्पीड़ित तबक़े के प्रतिरोध को कुचलकर और जाति-धर्म के नाम पर बाँटकर कमज़ोर कर सके। गुजरात में इस प्रकार के नेतृत्व का मॉडल मोदी की फ़ासीवादी सरकार पेश कर चुकी थी। यही वजह थी कि देश के पैमाने पर मोदी की भाजपा सरकार बनाने के प्रति पूँजीपति वर्ग की एकराय बनने लगी। यह प्रक्रिया 2012 से स्पष्ट तौर पर देखी जा सकती है।

यही दौर देश में बेरोज़गारी और महँगाई की दरों में भारी बढ़ोत्तरी का भी दौर था, जोकि 2011 से भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट के गहराने की ही अभिव्यक्ति था। एक बार फिर से सामाजिक और आर्थिक असुरक्षा, राजनीतिक चेतना से रिक्त टटपुँजिया व लम्पट मेहनतकश वर्ग में एक अन्धी प्रतिक्रिया को बढ़ावा दे रही थी। उसे अलग कारणों से एक "मज़बूत नेतृत्व" की आकांक्षा थी। उसे लगता था कि मोदी सरकार साफ़-सुथरी, मज़बूत सरकार होगी जो कि भ्रष्टाचार को समाप्त कर देगी, जादू की छड़ी घुमाकर महँगाई दूर कर दी जायेगी, अपराध ख़त्म कर दिया जायेगा, बेरोज़गारी दूर कर दी जायेगी! वह यह कभी नहीं सोचता कि यह महँगाई, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार आदि के ढाँचागत कारण क्या हैं और वह कैसे दूर हो सकती है! व्यक्तिवाद और नेतृत्व-पूजा उसके वर्ग की विचारधारा का एक अंग होता है और उसे वर्ग स्वभाव से लगता है कि एक तानाशाह जैसा मज़बूत नेता आकर सबकुछ ठीक कर देगा! मध्यवर्ग को लगता है कि वह अपने रोज़मर्रा के दफ़्तरी काम ज़्यादा आसानी से करवा लेगा, उसे घूस नहीं देनी पड़ेगी, उसका बिजली का बिल जल्दी जमा हो जायेगा, उसके घर की स्त्रियों को कोई नहीं छेड़ेगा, अपराध ख़त्म हो जायेगा, मुसलमानों, दलितों और औरतों को उनकी जगह दिखला दी जायेगी, पूर्ण अनुशासन और शान्ति होगी...यानी कि उसके सपनों का "रामराज्य" आ जायेगा! यह सपना भी उसे फ़ासीवादी शक्तियाँ ही दिखलाती हैं और उसके वर्ग स्वभाव और पितृसत्तात्मक मूल्यों के कारण उसे यह सपना काफ़ी भाता भी है। **लम्पट सर्वहारा वर्ग का एक हिस्सा अपनी मज़दूर वर्गीय चेतना के पूर्ण अभाव के कारण इस फ़ासीवादी लहर में शामिल होता है। उसके जीवन में एक लक्ष्यहीनता और शून्य होता है। "राष्ट्रवाद", "रामराज्य" और एक नक़ली दुश्मन के जुमले उसे लक्ष्य देते हैं और उसके जीवन के शून्य को भरते हैं।**

मोदी के 2014 में और फिर 2019 में सत्ता में आने के पीछे ये ही दो कारक थे: बड़े पूँजीपति वर्ग का समर्थन और टटपुँजिया वर्गों का प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन। ये दोनों कारक पैदा ही पूँजीवाद के संकट और उदार पूँजीवादी जनवाद के संकट के कारण होते हैं। इसलिए फ़ासीवाद को चुनाव में हराकर उसकी जगह वापस उदार पूँजीवादी जनवाद को स्थापित करना और कल्याणवाद और सुधारवाद का रास्ता अपनाना, लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था की चौहद्दियों को चुनौती न देना, मज़दूर वर्ग की सक्रियता को पूँजीवादी जनवादी दायरे में सीमित करना और उसे तमाम गैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी व संशोधनवादी पार्टियों का पिछलग्गू बनाना, और कुछ नहीं, बल्कि कालान्तर में और भी ज़्यादा आक्रामक फ़ासीवादी उभार की ज़मीन ही तैयार करता है। क्या अभी तक हम यह देखते नहीं आये हैं? जब आडवाणी को प्रधानमंत्री पद का दावेदार घोषित किया गया, तो हमारे देश के लिबरल भावुक होकर वाजपेयी को याद करने लगे; जब मोदी की सरकार बनी और उसने अपने असली रंग दिखाने शुरू किये, तो ये ही लिबरल आडवाणी के साथ कुछ ज़्यादा ही सहानुभूति महसूस करने लगे और कहने लगे कि कम-से-कम आडवाणी "इतना फ़ासीवादी" नहीं था; अगर कालान्तर में मोदी की चुनावी हार होती है, और किसी ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी सरकार के पाँच साल के बाद पूँजीवादी संकट के और गहराने के कारण मोदी से भी ज़्यादा बर्बर, असभ्य फ़ासीवादी प्रतिक्रिया पैदा होती है, मसलन, योगी के नेतृत्व के रूप में, तो ये ही लिबरल नॉस्टैल्जिक होकर मोदी सरकार को भी याद कर सकते हैं और कह सकते हैं कि "कम-से-कम मोदी सरकार इतनी बुरी तो नहीं थी!" ये लिबरल प्रगतिशील बुद्धिजीवियों तक की ख़ासियत है।

सबसे अच्छी बात यह होती कि बिहार विधानसभा चुनावों में महागठबन्धन जीत जाता। इसके कारण संसदीय वामपन्थ जितना नंगा हो सकता था, उतना नंगा वह अब नहीं हो

(पेज 10 पर जारी)

चुनावी क्षेत्र में भी मज़दूर वर्ग के स्वतंत्र क्रान्तिकारी राजनीतिक पक्ष के बिना, फ़ासीवाद से निपटा नहीं जा सकता!

(पेज 9 से आगे)

पायेगा और उसको लेकर प्रगतिशील दायरों में विभ्रम ज़्यादा दिनों तक बरक़रार रहेगा। जो सही मायने में क्रान्तिकारी तत्व हैं और समझदार वर्ग चेतना वाले मज़दूर हैं, वे तो आज भी समझ रहे हैं कि फ़ासीवाद को हराने के नाम पर उस राजद के साथ हाथ मिलाना जो लिबरेशन के ही छात्र नेता चन्द्रशेखर की हत्या के लिए ज़िम्मेदार है, जिसमें आज भी अनन्त कुमार सिंह जैसे आपराधिक तत्व शामिल हैं, किसी भी रूप में सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन नहीं है। लेकिन तमाम ऐसे प्रगतिशील लिबरल बुद्धिजीवी जो मोदी राज से त्रस्त हो चुके हैं, जिनके पास कोई ऐतिहासिक दृष्टि नहीं है, जो यह नहीं समझते कि फ़ासीवाद को चुनावी खेल में हराने का अर्थ फ़ासीवाद को हराना नहीं है, बल्कि फ़ासीवाद पूँजीवाद के अन्तकारी संकट के दौर में परजीवी व मरणासन्न पूँजीवादी प्रतिक्रिया है, जोकि पूँजीवादी व्यवस्था के रहते ख़त्म नहीं हो सकता है; उन्हें ही यह लगता है कि तात्कालिक तौर पर किसी भी अवसरवादी चुनावी मोर्चे से पूँजीवादी चुनावों में फ़ासीवादी पार्टी को हराकर फ़ासीवाद को हराया जा सकता है। वह यदि सत्ता में नहीं रहता तो वह पूँजीपति वर्ग के वफ़ादार कुत्ते का काम करता है और पूँजीवाद के रहते उसके निरन्तर गहराते संकट का हर भँवर पहले से ज़्यादा आक्रामक फ़ासीवादी प्रतिक्रियावादी लहर को पैदा करता है, जैसा कि हम वाजपेयी से योगी तक की यात्रा में देख सकते हैं।

ऐसे में आज मज़दूर वर्ग की रणनीति क्या होनी चाहिए? पूँजीवादी व्यवस्था जब संकट के अभूतपूर्व दौर में फँसी हुई है, जब पूँजीपति वर्ग मुनाफ़े की गिरती दर के संकट से बिलबिला रहा है और जब यह स्पष्ट है कि वैश्विक पैमाने पर बिना किसी व्यापक युद्ध के ज़रिये मानवता और उत्पादक शक्तियों के भारी पैमाने पर विनाश के बिना पूँजीवादी व्यवस्था वापस तेज़ी के दौर में प्रवेश कर ही नहीं सकती है, तो उस समय मज़दूर वर्ग को अपना क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करने की आवश्यकता है। पूँजीवादी संकट पूँजीवादी व्यवस्था की सीमाओं को हमारे सामने उजागर कर रहा है। ऐसे में मज़दूर वर्ग अपना लक्ष्य महज़ कुछ सुधार, कुछ कल्याण या कुछ आर्थिक अधिकारों को नहीं रख सकता है। यदि वह रखेगा तो वह और भी भयंकर पूँजीवादी फ़ासीवादी प्रतिक्रिया की ज़मीन तैयार करेगा। उसे अपने रोज़मर्रा के इन हक़ों की लड़ाई को समूची पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध समाजवादी क्रान्ति के संघर्ष से जोड़ना होगा। इस समाजवादी क्रान्ति के लक्ष्य के लिए आज सबसे ज़रूरी और पहला कार्यभार है, देशभर में एक क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी का निर्माण और गठन। ऐसी पार्टी के बिना पूँजीवादी संकट के रूप में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की घड़ियाँ आती रहेंगी और मज़दूर वर्ग इन मौक़ों को गँवाता रहेगा और हर बार उसकी सज़ा और भी ज़्यादा आक्रामक और बर्बर फ़ासीवादी लहर होगी।

पूँजीवादी चुनावों में भी मज़दूर वर्ग को अनिवार्यत: क्रान्तिकारी टैक्टिकल हस्तक्षेप करना ही होगा। यानी, यह विभ्रम पाले बिना कि पूँजीवादी चुनावों के ज़रिये ही समाजवाद के लक्ष्य को हासिल किया जा सकता है, मज़दूर वर्ग को चुनावों में अपनी क्रान्तिकारी पार्टी के उम्मीदवार खड़े करने होंगे। क्यों? इसलिए कि यदि मज़दूर वर्ग का क्रान्तिकारी हिरावल यह समझता है कि चुनावों के रास्ते ही समाजवाद नहीं आ सकता है, तो उसके आधार पर यह नहीं माना जा सकता है कि पूरा मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी भी पूँजीवादी चुनावों, संसदों आदि की अप्रासंगिकता को समझती हो; इनकी ऐतिहासिक और राजनीतिक अप्रासंगिकता समूचे मेहनतकश अवाम के सामने क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी द्वारा इन चुनावों में रणकौशलात्मक हस्तक्षेप के ज़रिये ही उजागर हो सकती है। दूसरी वजह यह है कि यदि सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी चुनावों के क्षेत्र में अपने स्वतंत्र राजनीतिक पक्ष को खड़ा नहीं करता है, तो सर्वहारा वर्ग के व्यापक जनसमुदाय भी इस या उस पूँजीवादी व संशोधनवादी (यानी नाम से कम्युनिस्ट, मगर वास्तव में पूँजीवादी) पार्टियों का पिछलग्गू बनता रहेगा। इन दोनों कारणों से निश्चित ही मज़दूर वर्ग को भी पूँजीवादी चुनावों में रणकौशलात्मक हस्तक्षेप करना चाहिए।

लेकिन सवाल यह है कि फ़ासीवाद के विरुद्ध मोर्चे के नाम पर क्या क्रान्तिकारी मज़दूर पक्ष राजद जैसी पार्टियों के साथ मोर्चा बना सकता है? क्या वह संशोधनवादी पार्टियों के साथ मोर्चा बना सकता है? **चुनाव में पूँजीवादी शक्तियों से फ़ासीवाद-विरोध के नाम पर ऐसे अवसरवादी मोर्चा बनाना तो दिमित्रोव की 'पॉपुलर फ्रण्ट' की कार्यदिशा भी नहीं है, जिसका हवाला कई संशोधनवादी और लेफ़्ट-लिबरल बुद्धिजीवी आजकल दे रहे हैं! और वैसे भी आज के दौर में दिमित्रोव की 'पॉपुलर फ्रण्ट' की फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति लागू भी नहीं हो सकती है। अलग-अलग मुद्दों पर फ़ासीवादियों के विरुद्ध अवश्य ही संशोधनवादी पार्टियों के साथ मोर्चे बन सकते हैं, लेकिन कोई भी आम मोर्चा, जैसेकि चुनावों में रणकौशलात्मक हस्तक्षेप का मोर्चा, उनके साथ नहीं बन सकता है। वैसे भी ये संशोधनवादी ताक़तें इन चुनावों में रणकौशलात्मक हस्तक्षेप नहीं कर रही हैं, बल्कि रणनीतिक तौर पर इसमें भागीदारी कर रही हैं। यानी वे क्रान्तिकारी रणनीति को कब का छोड़ चुकी हैं।**

फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चा किन शक्तियों के बीच बन सकता है? वह केवल और केवल उन क्रान्तिकारी शक्तियों के बीच ही बन सकता है जो कि वामपन्थी आतंकवाद की दीवालिया लाइन पर नहीं चल रही हैं, जैसे कि भाकपा-माओवादी (याद रहे कि माओवाद का भाकपा-माओवादी के "माओवाद" से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है) और दूसरा जो कि भारत को अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक मानने के महादीवालिया कार्यक्रम से कोई रिश्ता नहीं रखते हैं। भारत को अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक मानने वाले नरोदवादी कम्युनिस्टों से कोई चुनावी मोर्चा इसलिए नहीं बन सकता है क्योंकि आज के भारत में उनके अनुसार क्रान्ति की मित्र शक्तियाँ बिल्कुल अलग होंगी, जिनमें कि उनका काल्पनिक "राष्ट्रीय" पूँजीपति वर्ग भी शामिल होगा, जोकि विडम्बना की बात यह है कि क़तई नवजनवादी क्रान्तिकारी अर्थों में "राष्ट्रीय" नहीं है, बल्कि आज हमारे नरोदवादी कम्युनिस्टों का यही "राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग" मोदी सरकार और फ़ासीवाद का प्रमुख सामाजिक आधार बना हुआ है! जो क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियाँ इस बात को समझती हैं कि भारत एक अपेक्षाकृत रूप से पिछड़ा लेकिन एक पूँजीवादी देश है और वहाँ क्रान्ति की मंज़िल समाजवादी क्रान्ति है, वे ही एक सही प्रकार का क्रान्तिकारी वर्गीय संयुक्त मोर्चा बना सकते हैं, वे क्रान्ति के सही मित्र वर्गों की पहचान कर सकते हैं, हालाँकि उनमें से भी कई क्रान्तिकारी साहस के अभाव या अपने क़ौमवादी-किसानवादी भटकाव के कारण आजकल धनी किसानों-कुलकों के मंच पर कालीन के समान बिछे हुए हैं। केवल इसी प्रकार की ताक़तें पूँजीवादी चुनावों में भी फ़ासीवाद-विरोधी या आम तौर पर एक कम्युनिस्ट मोर्चा बना सकती हैं और मज़दूर वर्ग की राजनीतिक रूप से स्वतंत्र अवस्थिति को पेश कर सकती हैं।

बिहार विधानसभा चुनावों में अभी ऐसा कोई पक्ष विचारणीय रूप से मौजूद नहीं था। महागठबन्धन आम मेहनतकश जनता के पक्ष की नुमाइन्दगी क़तई नहीं करता था और अगर यह चुनावों में भाजपा को हरा भी देता तो इसे फ़ासीवाद की पराजय समझना उसी प्रकार आत्मघाती होता, जैसेकि 2004 और 2009 में भाजपा की पराजय को फ़ासीवाद की निर्णायक पराजय समझना आत्मघाती हुआ था। पूँजीवादी संकट के दौर में ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी सरकारें केवल फ़ासीवाद के आगामी अधिक आक्रामक चक्र की शुरुआत की पूर्वपीठिका तैयार करती हैं, क्योंकि पूँजीवादी संकट अपनी नैसर्गिक गति से फ़ासीवादी प्रतिक्रिया की ज़मीन तैयार करता है। संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन या महागठबन्धन जैसी किसी भी पूँजीवादी सरकार द्वारा कितना भी अधिक कल्याणकारी कार्य किया जाये, कितना भी अधिक सुधारवादी कार्य किया जाये, पूँजीवादी संकट के दौर में फ़ासीवादी प्रतिक्रियावादी लहर को रोका नहीं जा सकता है। उल्टे जितना अधिक कल्याणवाद और सुधारवाद होता है, पूँजीपति वर्ग का संकट भी उतना ज़्यादा गहराता है और फ़ासीवादी प्रतिक्रिया भी उतनी ज़्यादा बर्बर और आक्रामक होती है।

ऐसे में मज़दूर वर्ग को चुनावी रणनीति से बाहर दीर्घकालिक तौर पर समाजवादी क्रान्ति के लिए पहले अपने आपको गोलबन्द और संगठित करना चाहिए, उसके साथ व्यापक मेहनतकश जनता को गोलबन्द और संगठित करना चाहिए, और एक क्रान्तिकारी पार्टी निर्मित करने में लग जाना चाहिए जोकि समूची मेहनतकश जनता का राजनीतिक नेतृत्व बन सके। यह बेहद मुश्किल और चुनौतीपूर्ण कार्य है, लेकिन दीर्घकालिक तौर पर यही मज़दूर वर्ग का लक्ष्य है। लेकिन सिर्फ़ इस दीर्घकालिक लक्ष्य को ध्यान में रखना पर्याप्त नहीं है। तात्कालिक तौर पर, मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी को अपनी रोज़मर्रा की माँगों के लिए अपनी क्रान्तिकारी पार्टी के अलावा अपने जनसंगठनों में भी संगठित होना होगा और इन माँगों के लिए सड़क पर उतरकर संघर्ष करना होगा; क्रान्तिकारी पार्टी को व्यापक मेहनतकश जनता में अपना मज़बूत समर्थन आधार बनाना होगा, मेहनतकश जनता

(पेज 11 पर जारी)

दीघा विधानसभा क्षेत्र से भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी का चुनावों में हस्तक्षेप

10 नवम्बर, पटना. (बिगुल संवाददाता)। बिहार विधानसभा चुनावों में पटना के दीघा विधानसभा क्षेत्र में नवनिर्मित भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी ने भी पहली बार वारुणी पूर्वा के रूप में अपना उम्मीदवार खड़ा किया था। इस उम्मीदवार को 410 वोट प्राप्त हुए। वारुणी पूर्वा ने बताया कि पिछले कुछ माह से क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी ने पटना में अपने कार्यों की शुरुआत की थी। दीघा विधानसभा क्षेत्र बिहार का सबसे बड़ा विधानसभा क्षेत्र है और यहाँ पर क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी का कार्य और पहुँच दो छोटे-से मज़दूर व निम्न मध्यवर्गीय इलाक़ों तक सीमित था। इन क्षेत्रों में क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी पिछले कुछ माह से मज़दूरों व आम मेहनतकश आबादी के मुद्दों को लेकर संघर्षों को संगठित करती रही है।

आर.डब्ल्यू.पी.आई. उम्मीदवार वारुणी पूर्वा ने कहा, "मात्र दो रिहाइशी बस्तियों में इस सीमित पहुँच के बावजूद क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी ने बिहार विधानसभा चुनावों में दीघा से हस्तक्षेप इसलिए किया क्योंकि जिस हद तक वह मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए एक स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति को निर्मित कर सकती है, उसे करने का प्रयास करती रही है। बिहार में हमने अभी शुरुआत की है और हमें बहुत लम्बा सफ़र तय करना है। हमारा मक़सद महज़ चुनावी जीत या हार तक सीमित नहीं है। हमारा मक़सद है कि पूँजीवादी चुनावों के दौरान व्यापक मेहनतकश जनता के बीच समाजवाद के विचार और समाजवादी कार्यक्रम का प्रचार-प्रसार किया जाये और साथ ही स्थानीय मुद्दों व समस्याओं पर मज़दूर-वर्गीय नज़रिये से एक क्रान्तिकारी और व्यावहारिक तात्कालिक कार्यक्रम पेश किया जाये; जनता को अपने स्वतंत्र राजनीतिक पक्ष के निर्माण के लिए गोलबन्द और संगठित किया जाये। हमें निश्चित तौर पर मात्र 410 वोट प्राप्त हुए, लेकिन ये वोट हमारे काम का नतीजा हैं, किसी जातिगत गोलबन्दी या समीकरण का नहीं, पैसे और शराब बाँटने का नहीं। 410 राजनीतिक वोट के साथ हमने शुरुआत की है और हमें उम्मीद है कि भविष्य में हमारा राजनीतिक काम हमें और आगे ले जायेगा। पहले पटना के स्तर पर और फिर बिहार के स्तर पर एक स्वतंत्र सर्वहारा राजनीतिक पक्ष खड़ा करना, मज़दूर वर्ग की एक स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति का निर्माण करना, हमारा मक़सद है और इसे हम पूरा करके रहेंगे।"

कश्मीर में जारी दमन, फ़र्ज़ी मुक़दमे और भारतीय राज्यसत्ता का जनता पर कसता शिकंजा!

– अविनाश

कश्मीर में 5 अगस्त 2019 को अनुच्छेद 370 और 35ए को हटा दिया गया था। यह भारतीय राज्यसत्ता द्वारा कश्मीर की जनता के साथ किया गया ऐतिहासिक विश्वासघात ही है, जिसकी तार्किक परिणति अनुच्छेद 370 और 35ए को हटाने के तौर पर सामने आई। भाजपा के नेता-मंत्री इस मुद्दे पर आम जनता के बीच अन्धराष्ट्रवाद की लहर फैला रहे है। बिहार विधान सभा के चुनाव प्रचार में मोदी, जे.पी. नड्डा, रविशंकर प्रसाद आदि ने बार-बार राम मन्दिर और अनुच्छेद 370 की बात दोहरायी। मगर एक ओर जहाँ कश्मीर की वादियाँ अपने भीतर दुःख और दर्द का समंदर समेटे हुए है वहीं भाजपा सरकार पूँजीपति वर्ग की विस्तारवादी सोच की नंगई से नुमान्दगी करते हुए श्रम और प्राकृतिक सम्पदा का दोहन करने के लिए कश्मीर में नए-नए क़ानून बना रही है।

5 अगस्त को कश्मीर में इण्टरनेट की सेवा बन्द कर दी गयी थी ताकि कश्मीर की ज़मीनी सच्चाई को बाक़ी दुनिया से काट दिया जाये। इण्टरनेशनल प्रेस इंस्टीट्यूट(IPI) ने कहा कि कश्मीर में पत्रकारिता ख़ुद दमन का शिकार है जिसके कई उदहारण देखने को मिलते हैं। लॉकडाउन के दौरान 20 से ज़्यादा पत्रकारों को समन और पूछताछ के लिए पुलिस द्वारा बुलाया जाता है। उनमें से दो पत्रकारों मसरत ज़हरा और गोव्हार गिलानी को अपने सोशल मीडिया पोस्ट के तहत यूएपीए के लिए गिरफ़्तार भी किया जाता है। सरकार द्वारा 2 मीडिया प्रकाशन एक अंग्रेज़ी दैनिक कश्मीर टाइम्स और एक स्थानिक पत्रिका को सील कर दिया गया। कश्मीर टाइम्स की अनुराधा भसीन ने NIA द्वारा किए जा रही कार्यवाई पर कहा कि "यह सबको चुप कराने के लिए किया जा रहा है"। भसीन ने कहा की उन्हें कश्मीर टाइम्स के ऑफ़िस से 19 अक्टूबर को ज़बरदस्ती निकाल दिया गया था, जबकि उनके पास 30 अक्टूबर तक स्टे आर्डर था।

31 अक्टूबर 2020 को दो प्रसिद्ध मानवाधिकार और क़ानूनी जानकर के समूह J K Coalition of Civil Society(JKCCS) और Association of Parents of Disappeared Person(APDP) पर नेशनल इन्वेस्टिगेशन एजेंसी (NIA) द्वारा छपे मारे गये। छापे पड़ने के ठीक पहले फरवरी 2019 में APDP और JKCCS ने 1990 से कश्मीर में पुलिस द्वारा यातनाओं के ऊपर रिपोर्ट निकाली थी जिसके अनुसार कुल आरोपियों में 70% आरोपी आम नागरिक थे जिनमें से 11% प्रतिशत की मौत बिजली के झटकों , पानी में डुबाने और यौन यातनाओं से हुई थी। APDP के चेयरपर्सन प्रवीण अहंगर पर 8 अक्टूबर को 120बी ,124ए,17,18,22ए, 22 सी, 38, 39 और 40 UAPA 1967 लगाया गया। कोई भी समझ सकता है कि इन मुक़दमों के पीछे के असली कारण क्या हैं।

वहीं कश्मीर घाटी में आफ़्सपा जैसे क़ानून का इस्तेमाल करके सुरक्षाकर्मियों द्वारा दमन जारी है। 19 मई को 15 घरों में ज़बरन घुसने और लूटपाट की घटना सामने आई। 26 जून को बिझहेरा में एक 6 साल के बच्चे की पुलिस और अलगाववादियों की मुठभेड़ में मौत हो गयी। सितम्बर में प्रदर्शन के बाद शोपोर में 23 साल के दुकान मालिक को कस्टडी में टॉर्चर करके मार दिया गया। ऐसी ही एक बेहद ही दुखद और दर्दनाक घटना 18 जुलाई को घटी जिसमें सेना के राष्ट्रीय राइफ़ल ने अमिश्पोरा, शोपियान के पास के गाँव में 3 उग्रवादियों को मुठभेड़ में मारने की घोषणा की। मगर वह राजौरी के धर्सकरी गाँव में रहने वाले 3 भाई - इम्तियाज़ अहमद (26), इबरार अहमद(18) और मोहमद इबरार (21) थे। तीनो भाई शोपियान के बाग़ों में मज़दूरी करने गये थे। परिवार ने इनकी ग़ुमशुदगी की ख़बर पुलिस स्टेशन में लिखवाई थी। जाँच में पता चला कि जिन्हें उग्रवादी कहकर गोली मारी गयी और जो ग़ुमशुदा हैं, उनका डीएनए एक ही है। यानी साफ़ तौर पर यह एक फ़र्ज़ी एनकाउण्टर की घटना थी जिसमें मासूमों को अपने जान से हाथ धोना पड़ा। यहाँ तक कि सितम्बर में डिफ़ेंस प्रो को भी यह श्रीनगर में स्वीकार करना पड़ा कि भारतीय सेना ने इस घटना में आर्म्ड फ़ोर्सेज स्पेशल पॉवर एक्ट 1990 का उलंघन किया है। आज कश्मीर में लॉकडाउन के बाद 7 लाख फ़ौज तैनात है। भारतीय राज्यसत्ता द्वारा फ़र्ज़ी एनकाउण्टर-मुक़दमों, पेलेट गन्स, गिरफ़्तारी, तालाबन्दी कर दमन और अत्याचार से कश्मीर की जुझारू जनता और जनपक्षधर आवाज़ों को दबाकर रखने का काम किया जा रहा है।

कश्मीर में ज़मीन ख़रीदने के क़ानून में बदलाव के बाद अब रहे-सहे क़ानूनी अधिकारों का जो पर्दा मौजूद था, वह भी हट गया है। वैसे कश्मीर के लोग कहते हैं कि पहले भी किसी ने निजी निवेश को रोका नहीं था और यहाँ मौजूद सात सितारा होटल इसकी गवाही देते हैं। मगर अब सरकार ने इन क़ानूनों के तहत पूँजीपतियों को दोनों हाथों से ज़मीन देने के काम को अमली जामा पहना दिया है। Jammu and Kashmir Reorganisation (Adaption of Central Laws) Third order,2020 के तहत अब पूरे जम्मू और कश्मीर को सारे भारतीयों (धन्नासेठों और पूँजीपतियों) के लिए खोल दिया गया है। जो क़ानून बड़े भूमि अधिग्रहण को रोकते थे ,उन्हें पूरी तरह से हटा दिया गया है। साथ-साथ भारतीय सेना को यह अधिकार दे दिया गया है कि उसकी मर्ज़ी के हिसाब से वह जहाँ चाहे ज़मीन ले सकती है और सरकार को भी यह अधिकार दे दिया गया है कि वह कश्मीर में मौजूद कोई भी ज़मीन और सम्पति , औद्योगिकी और बड़ी पूँजी के निवेश के लिए ले सकती है। यह आदेश राज्य के 12 क़ानूनों को निरस्त करता है और उसके बदले 14 क़ानूनों को लागू करता है जिसके तहत अब नयी दिल्ली के कठपुतली गवर्नर के सहारे पूरे केन्द्र शासित जम्मू और कश्मीर को चालया जायेगा।

आइए हम इनमें से कुछ क़ानूनों पर नज़र डालते हैं। J-K Utilization of Land Act और J-K Prohibition of Land Act & Alienation of Orchards Act के अनुसार पहले बाग़ की ज़मीन को किसी अन्य इस्तेमाल करने पर रोक थी। मगर अब क़ानून में बदलाव के बाद से इसका अन्य इस्तेमाल किया जा सकता है। J-K Land Revenue Act के तहत अब कृषि की ज़मीन का ग़ैर कृषि इस्तेमाल बड़ी आसानी से किया जा सकता है। अब डिस्ट्रिक्ट कलेक्टर की आज्ञा पर चरागाह भूमि, अरक, खाप या कह-ए-कृशम या जो ईंधन या चारा उगाता है, इनका अन्य उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। तीसरा आदेश रोशनी जैसे विवादस्पद क़ानून से सम्बन्धित है जो J-K Land Act,2001 के तहत आता था। अब सरकार इसी क़ानून को नई भाषा में फिर से लागू करने का काम कर रही है। इस क़ानून के तहत सरकार अब अनधिकृत ज़मीन का नियमितीकरण (regularised) करने के लिए नियम बना सकती है। यह योजना इसलिए दिलचस्प है क्योंकि राज्यपाल सत्यपाल मलिक ने कश्मीर में सबसे पहले रोशनी एक्ट को ही निरस्त किया था। मगर सरकार अब इसे फिर चोर दरवाज़े से अन्दर ला रही है।

जे-के डेवलपमेण्ट एक्ट के संशोधन के गम्भीर परिणाम होंगे। सबसे पहले यह क़ानून केवल एक स्थायी निवासी या राज्य विषय जम्मू और कश्मीर (जेके) में अधिग्रहण और ख़रीद के प्रतिबन्ध को हटा देता है। साथ मे यह आदेश एक नया प्रावधान जोड़ता है कि जेके में किसी भी क्षेत्र को रणनीतिक क्षेत्र के रूप में अधिसूचित किया जा सकता है और जेके विकास के दायरे से बाहर रखा जा सकता है। सरकार एक सैन्य अधिकारी के लिखित अनुरोध पर एक रणनीतिक क्षेत्र की घोषणा कर सकती है। इसके साथ ही, J-K कंट्रोल ऑफ बिल्डिंग ऑपरेशंस एक्ट, या BOCA, जो सभी निर्माण गतिविधि को नियंत्रित करता है, को सामरिक क्षेत्रों में किसी तरह को दख़लंदाज़ी नहीं कर सकेगा। दूसरे शब्दों में, इन सामरिक क्षेत्रों को नगरपालिका क्षेत्रों में विनियमन क़ानूनों के निर्माण से नियंत्रित नहीं किया जायेगा।

इसका क्या मतलब है? इसका सीधा मतलब यह है कि सेना ने घोषणा की कि उसे श्रीनगर में लाल चौक, रेजिडेंसी रोड और पोलो व्यू क्षेत्र की जरूरत है, तो सरकार इसे एक सामरिक क्षेत्र के रूप में अधिसूचित कर सकती है और वे बिना किसी बाधा के अपनी इच्छा से किसी भी निर्माण को अंजाम दे सकते हैं। जम्मू और कश्मीर विकास अधिनियम में संशोधन करने से सेना के लिए विशेष रूप से आसान हो जाता है ताकि विकास प्राधिकरणों जैसे श्रीनगर, गुलमर्ग, सोनमर्ग, पहलगाम, युसमर्ग, बंगस, कोकेरनाग, वेरीनाग, अहरबल, पीर की गली, लोलब-बंगस द्वारा प्रबन्धित स्थानों में भूमि का अधिग्रहण किया जा सके। ड्रयानगर, वुल्लर- मनसबल, और कश्मीर में दूडपथरी और जम्मू प्रान्त में पहले विकास प्राधिकरणों के साथ भूमि का हस्तान्तरण कठिन था।

ऊपर से अदालतों द्वारा निगम के कामकाज़ की जाँच नहीं की जा सकती। इसे नियंत्रित करने वाले क़ानून में कहा गया है कि कोई भी अदालत अपने कहे बिना निगम की सम्पत्ति से सम्बन्धित किसी भी अपराध का संज्ञान नहीं ले सकती। किसी भी व्यक्ति (निगम और उसके आदेश के तहत काम करने वाले उद्योग / व्यवसाय) के अधिकारियों के ख़िलाफ़ कोई भी मुक़दमा, अभियोजन या अन्य क़ानूनी कार्रवाई शुरू नहीं की जा सकती है। और अगर कोई शिकायत है, तो निगम के अधिकारियों या उन उद्योगों के ख़िलाफ़ कोई मुक़दमा दायर नहीं किया जा सकता है। वहीं दूसरी ओर, निगम द्वारा अधिकृत किसी भी व्यक्ति के "प्रवेश में बाधा" डालने वाले को छह महीने के कारावास और दस हज़ार रुपये के ज़ुर्माने से दण्डित किया जा सकता है। इसका सीधा मतलब यह है कि पूँजिपतियों की कम्पनी को अपना प्राधिकार स्थापित करने के लिए कश्मीर की आबादी को बेदख़ल करने में किसी भी तरह की तकलीफ़ का सामना नहीं करना पड़ेगा। भूमि के मालिक इसके बारे में कुछ नहीं कर सकते। यहाँ तक कि आप आदालत का दरवाज़ा भी नहीं ठक-ठका सकते है, क्योंकि आपके पास कोई अधिकार ही नहीं है। आपको आपकी ज़मीन से क़ानूनी तौर पर बेदख़ल किया जा सकता है और उल्टा आवाज़ उठाने पर आपको ही शान्ति भंग करने के लिए सज़ा और ज़ुर्माना हो सकता है।

यह है कश्मीर की जनता के साथ भारतीय राज्यसत्ता का इन्साफ़। हमें यह जान लेना चाहिए कि कश्मीर काग़ज़ पर बना कोई नक़्शा नहीं है, कश्मीर वहाँ की जनता से बनता है। मज़दूरों व मेहनतकशों की लड़ाई न्याय और समानता के लिए है। सिर्फ़ अपने लिए न्याय और समानता नहीं बल्कि समूची मानवता के लिए न्याय और समानता। हम मज़दूर मेहनतकश साथियों को कभी भी किसी भी सामाजिक हिस्से या राष्ट्रीयता या जाति के शोषण, दमन और उत्पीड़न का समर्थन नहीं करना चाहिए। पूँजीपति वर्ग का राष्ट्रवाद मण्डी में पैदा होता है और इसी राष्ट्रवाद की लहर को सांस्कृतिक तौर पर फैलाकर पूँजीपति वर्ग अपने दमन और शोषण को जायज़ ठहराने का आधार तैयार करता है। वह अन्य राष्ट्रों के दमन और उत्पीड़न के लिए मज़दूर वर्ग में भी सहमति पैदा करने का प्रयास करता है। हमें पूँजीपति वर्ग, मालिकों व ठेकेदारों की इस साज़िश के प्रति सावधान रहना चाहिए। हमें हर क़ीमत पर हर प्रकार के शोषण, दमन और उत्पीड़न का विरोध करना चाहिए, अन्यथा हम अनजाने ही ख़ुद अपने दमन और शोषण को सही ठहराने की ज़मीन पैदा करेंगे।

चुनावी रणनीति तक सीमित रहकर फ़ासीवाद को हराया नहीं जा सकता!

(पेज 10 से आगे)

के रिहायशी इलाक़ों में संगठन व संस्थाएँ खड़ी करनी होंगी और सड़कों पर फ़ासीवादी शक्तियों के हमलों के समक्ष आत्मरक्षा और संघर्ष के लिए अपने जुझारू संगठन खड़े करने होंगे। इसके बिना फ़ासीवादी शक्तियों का मुक़ाबला करना सम्भव नहीं है।

पूँजीवादी व्यवस्था पूरी दुनिया के ही पैमाने पर जिस दौर में पहुँच चुकी है, उसमें विभिन्न प्रकार की धुर दक्षिणपन्थी व फ़ासीवादी सरकारें लगातार आती-जाती रहेंगी और जो ग़ैर-फ़ासीवादी सरकारें भी आयेंगी वे पर्याप्त दमनकारी होंगी और मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ फ़ासीवादी शक्तियों से सहयोग-सहकार करेंगी।

इस समस्या का पूर्ण और स्थायी इलाज तो समाजवादी क्रान्ति ही है। लेकिन तात्कालिक तौर पर भी मज़दूर वर्ग व मेहनतकश जनता को रोज़मर्रा के संघर्षों और फ़ासीवादी व प्रतिक्रियावादी शक्तियों से मुक़ाबले के लिए जुझारू और लड़ाकू तौर पर तैयार किये बिना उस दूरगामी लक्ष्य की ओर भी आगे नहीं बढ़ा सकता है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इस दीर्घकालिक लक्ष्य और तात्कालिक कार्यक्रम के साथ मज़दूर वर्ग को अपने आपको एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित करना होगा और केवल तभी फ़ासीवाद को भी निर्णायक तौर पर शिकस्त दी जा सकती है और समाजवादी क्रान्ति की ओर भी आगे बढ़ा जा सकता है, क्योंकि पहले भी यह कहना बिल्कुल सही था लेकिन आज यह पहले हमेशा से ज़्यादा सही है कि समूची पूँजीवादी व्यवस्था को ख़त्म किये बिना महज़ फ़ासीवाद को ख़त्म करने की उम्मीद करना मूर्खतापूर्ण है: "जो समूची पूँजीवादी व्यवस्था के प्रश्न पर चुप है, उसे फ़ासीवाद के सवाल पर भी मुँह नहीं खोलना चाहिए।"

बिहार विधानसभा चुनाव में दीघा विधानसभा सीट पर भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी को मिले समर्थन के लिए इन्क़लाबी अभिवादन

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) ने पहली दफ़ा बिहार के विधानसभा चुनाव में भागीदारी की। चुनाव के नतीजे सामने आ चुके हैं। चुनाव में एनडीए की सरकार को बहुमत मिला है। दूसरी तरफ़ महागठबन्धन 110 सीटों पर सिमट कर रह गया। इस जीत के प्रति भी संशय का माहौल बना हुआ है क्योंकि कई सीटों पर कुछ मामूली वोटों के ही अन्तर से जीत हासिल हुई है। इस विधानसभा चुनाव में भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी द्वारा भागीदारी एक रणकौशलात्मक हस्तक्षेप था, जिसके तहत चुनाव प्रचार के दौरान पार्टी ने समाजवादी कार्यक्रम का प्रचार-प्रसार किया गया। साथ ही जनता के बीच मौजूद पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली तमाम चुनावबाज़ पार्टियों और पूँजीपतियों के रिश्ते का भी भण्डाफोड़ किया गया। इस अत्यन्त ज़रूरी कार्यभार के साथ ही हमारा यह प्रचार सीमित आबादी तक ही पहुँच सका। प्रचार व्यापक नहीं हो सका इसका एक कारण आर्थिक कारण रहा और साथ ही छोटा संगठन होने के कारण भी ज़्यादा विस्तारित रूप से प्रचार अभियान नहीं चल सका। पार्टी ने ज़ोरदार ढंग से ख़ुद को मज़दूर वर्ग के स्वतंत्र पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया। चुनाव प्रचार में विभिन्न इलाक़ों से पार्टी को मज़दूरों, ग़रीब किसानों एवं निम्न मध्यवर्गीय तबक़ों और आम नौकरीपेशा लोगों व घरेलू कामगारों में अच्छा समर्थन मिला। इस दौरान कई नए इलाक़ों में पार्टी के वॉलिंटियर्स के तौर पर टीम भी खड़ी हुई 1 प्रचार के दौरान कई सारे सकारात्मक व नकारात्मक अनुभव हमें हासिल हुए। हमें तमाम नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पहलुओं पर बात करनी होगी ताकि आने वाले दौर में रणकौशलनात्मक हस्तक्षेप को और अधिक कारगर बनाया जा सके।

प्राप्त हुए वोटों की संख्या भी हमारे प्रचार और पार्टी के विस्तार व कामों का मूल्यांकन करने में एक उपकरण है। जैसाकि लेनिन ने कहा है जनसमर्थन को मापने का पैमाना सिर्फ़ वोट नहीं होता बल्कि वह कई पैमानों में से एक पैमाना होता है, उसके बावजूद भी वह मुख्य पैमाना नहीं होता। भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी की उम्मीदवार वारुणी पूर्वा को बिहार विधानसभा चुनाव में दीघा विधानसभा क्षेत्र से 410 वोट मिले। पूरे प्रचार के दौरान पार्टी जिन इलाक़ों में कार्यरत थी वहाँ पर काफ़ी समर्थन मिला।

दीघा क्षेत्र में पार्टी मुख्य रूप से गोसाई टोला और बिन्द टोली इलाके में कार्यरत थी । गोसाई टोला एक ऐसा इलाक़ा है जहाँ पर घरेलू कामगार महिलाएँ, दिहाड़ी मज़दूर, छोटे दुकानदार, छोटे व्यापारी, बटाई पर खेती करने वाले छोटे किसान, सफ़ाईकर्मी एवं ऑटो रिक्शा ड्राइवर आदि मुख्य रूप से निवास करते हैं। शुरुआत में यहाँ मुख्य रूप से सुधार कार्य किया जा रहा था। पिछले कुछ महीनों से यहाँ के लोगों को संगठित कर उनकी माँगों पर आन्दोलनात्मक गतिविधियाँ शुरू की गईं। गोसाई टोला में पिछले कुछ महीनों से पार्टी की मौजूदगी रही है। सुधार कार्य के कारण इस इलाक़े से हमें अच्छा समर्थन मिला। पार्टी के दूसरे कार्यक्षेत्र के तौर पर बिन्द टोली इलाक़ा है। यह इलाक़ा थोड़ा पिछड़ा हुआ है यहाँ रहने वाले लोग बटाई पर खेती, मछली पकड़ने, सब्ज़ी बेचने, बालू खनन में मज़दूरी, दिहाड़ी खटने, छोटे-मोटे दुकानदारी एवं कुछ लोग ऑटो चलाने आदि का काम करते हैं। पार्टी इस इलाक़े के मुद्दों पर कुछ महीनों से लगातार संघर्षरत थी। यहाँ पर चुनाव प्रचार के दौरान पार्टी को भारी समर्थन मिला। प्रचार के दौरान बहुतायत आबादी हमारे साथ खड़ी थी, हालाँकि मतदान के ठीक एक दिन पहले पूरे इलाक़े में हर जगह तमाम चुनावबाज़ पार्टियों के दलाल सक्रिय थे। इस दौरान चुनाव की प्रक्रिया में यह साफ़ देखने को मिला कि मतदान के एक रात पहले खुले रूप से पैसे बाँटे गये, धमकाया गया और जाति के नाम पर ध्रुवीकरण किया गया। बिन्द टोली से भारी समर्थन के बावजूद भी वोट में वह तब्दील नहीं हो सका इसका एक बड़ा कारण लोगों की तात्कालिक फ़ायदा देखने की मानसिकता थी। अन्य इलाक़ों में भी और पार्टी के कार्यरत इलाक़ों में भी एक बड़ी आबादी यह सोच रही थी या सोचने को मजबूर हुई कि मज़दूर पार्टी वाले बात सही कह रहे हैं लेकिन चुनाव में यह जीतेंगे नहीं तो हम अपना वोट क्यों बर्बाद करें, यह मानसिकता भी बड़े पैमाने पर काम कर रही थी।

लेनिन ने यह पहले ही बताया था कि वोट जनसमर्थन को मापने का मुख्य पैरामीटर नहीं होता है, असल में किसी पार्टी को कितना जनसमर्थन प्राप्त है यह जनान्दोलनों, हड़तालों और पार्टी द्वारा चलाए जा रहे अभियानों में जनता की भागीदारी से तय होता है। इसके साथ ही पूरे प्रचार अभियान में आर्थिकी और लोगों की कमी के कारण एक बड़े क्षेत्र में हमारा प्रचार पहुँच ही नहीं सका। तय नीति के तहत हम लोगों ने पहले से कार्यरत इलाके में सघन तौर पर प्रचार अभियान चलाया परन्तु अन्य कई मज़दूर वर्गीय इलाक़ों तथा झुग्गीवासी व मेहनतकश आबादी के बीच व्यापक प्रचार अभियान नहीं चलाया जा सका। यह भी एक कारण था कि हमारी बात एक बड़ी आबादी तक पहुँच ही नहीं सकी। अपने कार्य क्षेत्र में भी सघन रूप से जो प्रचार अभियान चलाया गया उसमें भी धनबल, बाहुबल और जाति-धर्म की राजनीति को चुनौती देते हुए हमने मज़दूर वर्ग के स्वतंत्र पक्ष को मज़बूती से रखा। हमें पटना घरेलू कामगार यूनियन द्वारा समर्थन भी दिया गया। हमारे इलाक़ों में ज़्यादातर घरेलू कामगार महिलाओं द्वारा हमें समर्थन प्राप्त हुआ।

पूरे प्रचार अभियान की यदि सकारात्मक अनुभव पर बात करें तो इस पूरे अभियान के ज़रिये चुनाव के दौरान राजनीतिक तौर पर सक्रिय आबादी के बीच हमने पार्टी के कार्यक्रम का ज़बरदस्त प्रचार प्रसार किया। यह प्रचार सिर्फ़ मज़दूर वर्ग तक केन्द्रित नहीं था बल्कि आम जनता के हर तबक़े तक हमारी बात पहुँची 1 इस प्रचार के ज़रिये पूँजीपति वर्ग की पार्टियों का बेहतरीन भण्डाफोड़ भी किया गया। परिणामस्वरूप कई सारे नए इलाक़ों के ऐसे उन्नत चेतना के तत्व सम्पर्क में आये जो पार्टी के वॉलिंटियर कोर के तौर पर खड़े हो रहे हैं। इसके साथ ही इस पूरे चुनाव प्रचार अभियान में संसदीय वामपन्थी पार्टियों का भण्डाफोड़ भी किया गया। उनके अवसरवादी गठबन्धन का भण्डाफोड़ किया गया जो कि एक हद तक सफल रहा। लोगों के बीच नक़ली कम्युनिस्ट पार्टियों को लेकर भ्रम भी एक स्तर तक टूटा। तमाम पूँजीवादी पार्टियों का भण्डाफोड़ करते हुए अपना विकल्प देने की पूरी कोशिश की गयी। विकल्प के तौर पर कई सारे लोगों ने हमें स्वीकारा और प्रचार अभियान के दौरान लोगों की यह भी राय बनी कि हम आने वाले वक़्त में एक मुख्य ताक़त के तौर पर उभरेंगे। यह आम जनता की तरफ़ से एक प्रतिक्रिया थी। वहीं दूसरी ओर नकारात्मक अनुभव के तौर पर जो बात उभरकर आई, वह यह थी कि हमें अपने कार्यरत इलाक़े और आसपास के इलाक़े तक ही सीमित नहीं रह जाना चाहिए था। यदि समय का अभाव न होता तो पूरे प्रचार अभियान को जनता के व्यापक हिस्से में फैलाया जा सकता था और इससे परिणाम बेहतर हो सकते थे और इसके साथ ही पार्टी के विस्तार की भी सम्भावना बनती।

आगे जिन मुद्दों को लेकर हमने विधानसभा चुनाव में हस्तक्षेप किया है उन मुद्दों को लेकर ही हमें फिर से जनता के बीच निरन्तर मौजूद रहना होगा। चाहे वह घरेलू कामगारों का मुद्दा हो या शिक्षा का मुद्दा हो या रोज़गार का मुद्दा हो या आमजन से जुड़े हुए बिजली पानी, नाली इन तमाम तात्कालिक जो भी मुद्दे हो उनको लेकर पार्टी हर इलाक़े में मोहल्ला सभाओं का आयोजन करेगी और इन सवालों को लेकर आन्दोलन करेगी। भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी सभी साथियों का आह्वान करती है कि पार्टी से जुड़ें और सभी इंसाफ़पसन्द लोगों को भी जोड़ें। अभी यह पार्टी के लिए अपनी पहचान स्थापित करने की मंज़िल थी। अभी व्यापक जनसमुदाय तक पार्टी का नाम पहुँचाने और इसके साथ ही पार्टी के कार्यक्रम को पहुँचाने में समय लगेगा। यह बिहार विधानसभा चुनाव का हमारा पहला अनुभव था। यह पार्टी किसी भी पूँजीवादी घराने या चुनावी ट्रस्ट, एनजीओ या फ़ण्डिंग एजेंसी के वित्त पोषण पर निर्भर नहीं थी। हमने पूरा प्रचार अभियान जनता के बीच से जुटाए और प्रगतिशील व्यक्तियों के बीच से जुटाए सहयोग से चलाया। इसलिए समझा जा सकता है कि आर्थिकी भी एक बड़ा कारण था, जिसके कारण हमारा प्रचार अभियान कुछ इलाक़ों तक सिमट कर रह गया। इसके साथ ही मीडिया द्वारा कहीं पर भी कोई कवरेज ना मिलना भी आर्थिकी से ही जुड़ा हुआ प्रश्न था। इस पूरे चुनाव में धनबल, बाहुबल और जाति आधारित राजनीति को चुनौती देते हुए और तमाम ऐसी सीमाओं के बावजूद पार्टी ने अपना प्रचार अभियान बहुत बेहतरीन तरीक़े से चलाया और जनता के बीच से भी बड़ा समर्थन प्राप्त हुआ। लोगों के द्वारा व्यक्त किए गये प्रतिक्रिया के आधार पर कहे तो आने वाले वक्त में हम लोग तमाम पार्टियों के लिए चुनौती और जनता के समक्ष विकल्प होंगे। हम आने वाले वक़्त में इन तमाम पूँजीवादी पार्टियों के बरक्स एक विकल्प के तौर पर ज़रूर उभरेंगे।

– RWPI, बिहार इकाई की ओर से

वैश्विक भूख सूचकांक : भारत में भूख से जूझता मेहनतकश

(पेज 7 से आगे)

के नाम पर 'कुपोषण मुक्त भारत' का नारा तो दे दिया गया है परन्तु जनता के हाथ से रोज़गार छीनकर पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरने वाली यह फ़ासिस्ट सरकार जनता को छलावा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दे सकती।

आख़िर क्या वाकई भारत में भूख और कुपोषण की इस स्थिति का समाधान सम्भव नहीं है? क्या भारत में खाद्यान्नों का उत्पादन इतना कम है कि इस देश की जनता को भूख से जूझना ही पड़ेगा? आइए एक नज़र कुछ आँकड़ों पर डालते हैं। भारत में मार्च 2020 में कोरोना के शुरूआती दिनों में भारतीय खाद्य निगम के चेयरमैन डी. वी. प्रसाद ने कहा था "चिंता की कोई बात नहीं है देश के प्रत्येक भाग में गेहूँ और चावल के पर्याप्त भण्डार हैं"। उन्होंने कहा कि भारत के पास डेढ़ साल तक यहाँ की ग़रीब आबादी के पोषण के लिए पर्याप्त खाद्यान्न मौजूद है। भारत में वर्ष 2015-16 में 2497 लाख टन, 2016-17 में 2729 लाख टन, वर्ष 2017-18 में 2828 लाख टन, वर्ष 2018-19 में 2813 लाख टन और वर्ष 2019-20 में 2920 लाख टन खाद्यान्न का उत्पादन हुआ था। वर्ड इकनोमिक फ़ोरम के एक अनुमान के अनुसार भारत में पूरी आबादी को खिलाने के लिए 2300 लाख टन खाद्यान्न की जरूरत बताई गयी थी। इससे यह साफ़ है कि देश में आबादी को खाने के लिए अनाज की कमी नहीं है बल्किइसका पर्याप्त उत्पादन होता है। मोदी सरकार के कई मंत्री भी इस बात को कह चुके है कि देश में अनाज की कोई कमी नहीं है। पिछले कई सालों से देश में खाद्यान्न उत्पादन कुल आबादी की जरूरत से अधिक होने के बावजूद भी देश की भारी आबादी भूख का शिकार है। पूँजीवादी मुनाफे की चक्की में पिसते मजदूर वर्ग को एक तरफ़ तो बेरोज़गारी द्वारा और दूसरी तरफ़ पूँजीपतियों द्वारा मुनाफ़े को लगातार बढ़ाने के चक्कर में मज़दूरी को इतना कम कर दिया गया है कि वह बमुश्किल से जीवित रह पाता है। वहीं देश में एफ. सी. आई के गोदामों में लाखों टन अनाज हर साल बर्बाद कर दिया जाता है। क्योंकि इस अनाज को अगर इस देश के ज़रूरतमन्दों में पहुँचा दिया जायेगा तो तमाम एग्रो-बिज़नेस कम्पनियों का मुनाफ़ा मारा जायेगा। लूट पर आधारित इस व्यवस्था में सरकारी नीतियों एवं पूँजीवाद की अपनी नैसर्गिक गति यही है कि इसमें पर्याप्त संसाधन मौजूद होने पर भी भारी आबादी भूख और कुपोषण का शिकार ही रहेगी।

जहाँ एक तरफ़ तो भारत में हर साल अरबपतियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हो रही है वहीं दूसरी तरफ़ ग़रीब और भी ग़रीब होता जा रहा है। बेरोज़गारी लगातार बढ़ती जा रही है। कोरोना-काल में एक तरफ़ इस देश के मज़दूर आबादी ने अभूतपूर्व विपत्तियों को झेला, दाने-दाने को मोहताज़ हुई वहीं फ़ोर्ब्स पत्रिका द्वारा 2020 के अरबपतियों की सूची में भारत के 9 नये नाम और जुड़ गये हैं। कोरोना-काल में जहाँ पूरे देश में आर्थिक मन्दी छायी रही; मज़दूर और ग़रीब आदमी की आमदनी ठप्प हो गयी, उसके रोज़गार छिन गये; वहीं देश के सबसे बड़े पूँजीपति मुकेश अम्बानी की आमदनी में 73 प्रतिशत का और गौतम अडानी की सम्पत्ति में 61 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ।

स्पष्ट है कि इस देश में भूख, कुपोषण और इस कारण से होने बाली मौतें चाहे वह बच्चों की मौतें हों या महिलाओं और पुरुषों की वे पूँजीपतियों के शोषण और सरकारों द्वारा इन पूँजीपतियों को और अमीर बनाते जाने के लिए काम करने का नतीजा है। भूख से मरने वाले और कुपोषण के शिकार लोग इस देश की ग़रीब जनता के बेटे-बेटियाँ हैं जो पूँजी की नंगी लूट की भेंट चढ़ रहें हैं। भूख और कुपोषण से न तो इस देश के धन्नासेठों और न ही नेता मंत्रियों के बच्चे मरते हैं; मरते हैं तो मेहनतकश ग़रीब और मज़लूम! कोई कारण नहीं है कि पर्याप्त खाद्यान्न उत्पादन होने के बावजूद कोई भी आदमी कुपोषित रहे और भूख से या कुपोषण के कारण दम तोड़े। पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े की गिरती दर से उबरने के लिए मेहनतकश को ग़रीबी, भूख और कुपोषण ही दे सकता है। पूँजी की अन्धी लूट ने मेहनतकश को जिस अन्धी गली में लाकर खड़ा कर दिया है वहाँ से बाहर निकलने का एक ही रास्ता है कि शोषण पर टिकी इस व्यवस्था के ख़िलाफ़ उठ खड़ा हुआ जाये।

7 नवम्बर – एक नयी ऐतिहासिक तारीख़

अल्बर्ट रीस विलियम्स उन पाँच अमेरिकी लोगों में से एक थे जो अक्टूबर क्रान्ति के तूफ़ानी दिनों के साक्षी थे। अन्य चार अमेरिकी थे – जॉन रीड, बेस्सी बिट्टी, लुइस ब्रयान्त और एलेक्स गाम्बोर्ग। 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' – जॉन रीड की इस विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक से हिन्दी पाठक भलीभाँति परिचित हैं जिसमें उन्होंने अक्टूबर क्रान्ति के शुरुआती दिनों का आश्चर्यजनक रूप से शक्तिशाली वर्णन प्रस्तुत किया है। बेस्सी बिट्टी ने भी 'रूस का लाल हृदय' नामक पुस्तक तथा अक्टूबर क्रान्ति विषयक कई लेख लिखे। दुर्भाग्यवश उनके हिन्दी अनुवाद अभी तक सामने नहीं आये हैं।

अल्बर्ट रीस विलियम्स 1917 के शुरू में रूस पहुँचे थे। उस समय से लेकर अक्टूबर क्रान्ति तक, यानी क्रान्ति की तैयारी से लेकर उसके सम्पन्न होने तक के तूफ़ानी दिनों के वे न सिर्फ़ गवाह रहे, बल्कि भागीदार भी रहे। इस दौरान उन्होंने न केवल व्यापक रूसी मज़दूर-किसान जनता के क्रान्तिकारी शौर्य और सृजनशीलता को निकट से देखा, बल्कि उन बोल्शेविक योद्धाओं के भी घनिष्ठ सान्निध्य में रहे जो अक्टूबर क्रान्ति की आत्मा थे । उन्हें दो माह तक मास्को के नेशनल होटल में लेनिन के साथ रहने, उनके साथ यात्रा करने और एक ही मंच से अपने विचार रखने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। क्रान्ति के बाद जुलाई, 1918 तक, दुनिया की पहली सर्वहारा सत्ता के जीवन-मरण के उस संघर्ष को उन्होंने देखा, जब साम्राज्यवादी देश और देशी प्रतिक्रियावादी ताक़तें क्रान्ति को कुचल डालने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रही थीं।

अपने अनुभवों को उन्होंने दो प्रसिद्ध पुस्तकों 'रूसी क्रान्ति के दौरान' और 'लेनिन: व्यक्ति और उनके कार्य' में दर्ज किया है। उनकी पहली पुस्तक से प्रस्तुत यह अंश 1917 के 7 नवम्बर (पुराने कैलेण्डर के अनुसार 25 अक्टूबर) की उस तूफ़ानी रात की एक झलक पेश करता है जब दुनिया का इतिहास हमेशा के लिए बदल जाने वाला था। – सम्पादक

जिस समय पेत्रोग्राद में गश्ती दस्तों के बीच झड़पें हो रही थीं और गरमागरम बहसें चल रही थीं, सारे रूस से यहाँ (स्मोल्नी में) लोग आ रहे थे। वे स्मोल्नी में आयोजित सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस के प्रतिनिधि थे।

स्मोल्नी, जहाँ पहले अभिजात वर्ग की लड़कियों के लिए एक आलीशान स्कूल था, अब सोवियतों का केन्द्र बन गया था। नेवा के तट पर स्थित यह विशाल राजसी भवन दिन के समय उदास-उदास और फीका-फीका लगता था। मगर रात को सैकड़ों लैम्पों से प्रकाशमान खिड़कियों की शोभा से यह एक बड़े मन्दिर – क्रान्ति के मन्दिर – के समान दिखायी पड़ता था। द्वार-मण्डपों के सामने दो स्थानों पर अलाव जलते रहते थे, जिनकी लौ वेदी की ज्योति की भाँति थी। आग के गिर्द लम्बे कोट पहने सैनिक चौकसी करते रहते थे। यहाँ अगणित ग़रीबों और अभावग्रस्त व्यक्तियों की आशाएँ और आकांक्षाएँ केन्द्रीभूत थीं। यहीं वे दीर्घकालीन उत्पीड़न और अत्याचारों से मुक्ति पाने की आशाएँ लगाये हुए थे। यहीं उनके जीवन-मरण की समस्याओं को हल करने का प्रयास हो रहा था।

उस रात मैंने फटे-पुराने कपड़े पहने एक दुबले-पतले मज़दूर को अँधेरे मार्ग पर धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए देखा। उसने अचानक अपना सिर ऊँचा उठाकर स्मोल्नी के विशाल अग्रभाग की ओर देखा, जो गिरती हुई बर्फ़ के बीच जगमगा रहा था। सिर से टोपी उतारकर वह अपने हाथों को फैलाये हुए वहाँ कुछ क्षण खड़ा रहा। उसके बाद ज़ोरों से **"कम्यून! जनता! क्रान्ति!"** चिल्लाता हुआ वह आगे बढ़ा और दरवाज़ों से भीतर जा रही भीड़ में शामिल हो गया।

ये प्रतिनिधि युद्ध के मोर्चे, निष्कासन, जेलों और साइबेरिया से स्मोल्नी पहुँचे थे। वर्षों तक उन्हें पुराने साथियों के बारे में कोई सूचना नहीं मिली थी। अब अचानक एक-दूसरे को पहचानकर वे ख़ुशी से चिल्ला

उठते, एक-दूसरे से गले मिलते, कुछ कहते-सुनते और क्षणिक आलिंगन के पश्चात वे शीघ्रता से सम्मेलनों, दल की बैठकों और अन्तहीन सभाओं में व्यस्त हो जाते।

स्मोल्नी अब सार्वजनिक सभा के बड़े मंच जैसा हो गया था, जहाँ विशाल शिल्पशाला के कोलाहल की भाँति सशस्त्र क्रान्ति के लिए आह्वान करने वालों की हुंकार, श्रोताओं की सीटियाँ अथवा फ़र्श पर पैर पटकने की आवाज़ें, चुप कराने के लिए घण्टी बजने की आवाज़, सन्तरियों के हथियारों की खनखनाहट, सीमेण्ट के फ़र्श पर मशीनगनों की रगड़ और क्रान्तिकारी गीतों का समवेत गान सुनायी पड़ता था और जो लेनिन और ज़िनोवियेव के गुप्त स्थान से वहाँ प्रकट होने पर तुमुल हर्षध्वनि एवं तालियाँओं की गड़गड़ाहट से गूँज उठा था।

हर चीज़ वहाँ तीव्र गति से हो रही थी, वातावरण में तनाव था, जो प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा था। प्रमुख कार्यकर्ता तो मानो अन्तहीन शक्ति से ओतप्रोत थे, उनकी कार्यक्षमता चमत्कारपूर्ण थी, क्योंकि वे बिना सोये, बिना थके काम में लगे हुए थे और क्रान्ति की महत्त्वपूर्ण समस्याओं का साहस के साथ सामना कर रहे थे।

25 अक्टूबर (7 नवम्बर) की इस रात को दस बजकर चालीस मिनट पर ऐतिहासिक बैठक शुरू हुई, जिसके परिणाम रूस और सारे संसार के भविष्य के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावकारी होने वाले थे। अपने-अपने गुटों की बैठकों से प्रतिनिधि विशाल सभा-कक्ष में आये। बोल्शेविक-विरोधी दान सभापति था। उसने चुप रहने के लिए घण्टी बजाते हुए घोषणा की, "सोवियतों की दूसरी कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की कार्यवाही अब शुरू होती है।"

सर्वप्रथम कांग्रेस की कार्यसंचालन समिति (अध्यक्ष-मण्डल) का चुनाव हुआ। बोल्शेविकों के 14 सदस्य चुने गये। अन्य सभी दलों को 11 स्थान मिले। पुरानी कार्यसंचालन समिति मंच से हट गयी और बोल्शेविक नेताओं ने, जो अभी हाल तक रूस के बहिष्कृत एवं गैरक़ानूनी व्यक्ति थे, उनका स्थान ग्रहण किया। दक्षिणपन्थी दलों ने, जिनमें मुख्यतः बुद्धिजीवी थे, प्रमाण-पत्रों और कार्यक्रम पर आपत्ति के साथ अपना हमला शुरू किया। वे वाद-विवाद में माहिर थे। वे कोरी बातों में ही अपना कमाल दिखाते थे। वे सिद्धान्त और कार्यपद्धति के बारे में सूक्ष्म प्रश्न उठाते थे।

तभी अचानक उस रात के अन्धकार को भेदने वाली प्रचण्ड गड़गड़ाहट से प्रतिनिधि सन्नाटे में आ गये, अपने स्थानों से उछल पड़े। यह तोप की दनदनाहट थी, क्रूज़र 'अव्रोरा' ने शीत प्रासाद पर गोला दागा था। दूरी के कारण गड़गड़ाहट धीमी एवं दबी-दबी सुनायी पड़ती थी, मगर वह सतत तथा क्रमबद्ध थी। यह गड़गड़ाहट पुरानी व्यवस्था के अन्त की सूचक थी, नयी व्यवस्था के आगमन का अभिवादन-गीत थी। यह जन-समुदाय की आवाज़ थी, जो 'अव्रोरा' की गड़गड़ाहट के रूप में प्रतिनिधियों के सम्मुख यह माँग प्रस्तुत कर रही थी, "सारी सत्ता सोवियतों को!" इस प्रकार वस्तुतः कांग्रेस के सम्मुख यह प्रश्न पेश कर दिया गया : क्या प्रतिनिधि सोवियतों को रूस की सरकार घोषित करेंगे और इस नयी सरकार को वैधानिक आधार प्रदान करेंगे?

बुद्धिजीवी पीठ दिखा गये

बुद्धिजीवियों ने जन-समुदाय का साथ छोड़कर इतिहास का एक विस्मयकारी विरोधाभास और इसका एक अत्यन्त दुखद परिच्छेद प्रस्तुत किया। प्रतिनिधियों में इस प्रकार के बीसियों बुद्धिजीवी थे। उन्होंने "अज्ञानता के अँधेरे में भटकने वाले लोगों" को अपनी निष्ठा का लक्ष्य बना रखा था। "जनता के निकट जाना" उनके लिए कभी धार्मिक कृत्य जैसा था। उन्होंने जनता के लिए ग़रीबी, कारावास और निष्कासन की यन्त्रणाएँ सहन की थीं। उन्होंने निश्चेष्ट जन-समुदाय में क्रान्तिकारी विचारों से जागरण की भावना पैदा की थी और उन्हें क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित किया था। उन्होंने अटूट रूप से जनता के चरित्र एवं औदार्य की सराहना की थी। यूँ कहना चाहिए कि बुद्धिजीवियों ने जनता को देवता बना दिया था। अब जन-समुदाय देवताओं जैसे आक्रोश एवं वज्र-ध्वनि के साथ विद्रोह के लिए सन्नद्ध हो रहा था और अब वह अपने विवेक के अनुसार दृढ़ता से काम करने को कटिबद्ध हो गया था।

परन्तु बुद्धिजीवी उस देवता को स्वीकारने को तैयार नहीं थे, जो उनकी बातों पर कान नहीं देता या और जो उनके वश से बाहर हो चुका था। बुद्धिजीवी अब नास्तिक हो गये थे, अपने भूतपूर्व देवता – जन-समुदाय – में उनकी बिल्कुल आस्था नहीं रही थी। वे क्रान्ति करने के उनके अधिकार को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे।

जिस जन-समुदाय को बुद्धिजीवियों ने क्रान्ति के लिए जगाया था, उसे अब अपने ही लिए ख़तरनाक मानकर वे त्रस्त थे, भय से काँप रहे थे और आवेश से लाल-पीले हो रहे थे। वे इसे अनधिकृत चेष्टा, पैशाचिक कृत्य और भयानक संकट कहते थे, उनके अनुसार यह रूस को अराजकता के गर्त में झोंकना था और यह "सरकार के ख़िलाफ़ अपराधमूलक विद्रोह था"। वे जनता के विरुद्ध हो गये थे, उसके विरुद्ध बकते-झकते और गालियाँ देते थे, उसकी आरज़ू-मिन्नत करते थे तथा आग-बबूला होकर अनाप-शनाप बकते थे। उन्होंने प्रतिनिधियों की हैसियत से इस क्रान्ति को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। उन्होंने इस कांग्रेस को यह अनुमति प्रदान करने से इंकार कर दिया कि वह सोवियतों को

(पेज 14 पर जारी)

7 नवम्बर – एक नयी ऐतिहासिक तारीख़

(पेज 13 से आगे)

रूस की नयी सरकार घोषित करे।

कितनी बेमानी, कितनी बेतुकी बात थी यह! इस क्रान्ति को न मानना तो ज्वार-तरंग अथवा ज्वालामुखी के विस्फोट को न मानने के समान था। यह क्रान्ति सर्वथा अनिवार्य, अपरिहार्य थी। इसे सर्वत्र, बैरकों, खाइयों, कारख़ानों और सड़कों पर देखा जा सकता था। यहाँ, इस कांग्रेस में भी सैकड़ों मज़दूर, सैनिक और किसान प्रतिनिधियों के माध्यम से क्रान्ति का स्वर औपचारिक रूप से गूँज रहा था। इस हॉल की इंच-इंच जगह को घेरे हुए, स्तम्भों और खिड़कियों के दासों पर चढ़े हुए, एक-दूसरे के साथ सटे हुए और भावनाओं की गर्मी से वातावरण को गरमाते हुए लोगों के माध्यम से क्रान्ति का अनौपचारिक रूप दिखायी दे रहा था।

लोग यहाँ इसलिए जमा थे कि उनके क्रान्तिकारी संकल्प की पूर्ति हो, कि कांग्रेस सोवियतों को रूस की सरकार घोषित करे। इस प्रश्न पर वे अटल थे। इस प्रश्न पर परदा डालने के हर प्रयास, इस संकल्प को विफल करने अथवा इसे टालने की हर चेष्टा का आक्रोशपूर्ण विरोध किया जाता था।

दक्षिणपन्थी पार्टियाँ इस प्रश्न पर लम्बे-लम्बे प्रस्ताव प्रस्तुत करना चाहती थीं। भीड़ व्याकुल थी। लोगों का कहना था – "अब अधिक प्रस्तावों की ज़रूरत नहीं है! अब अधिक भाषणों की आवश्यकता नहीं है! हम काम चाहते हैं! हम सोवियतों की सरकार चाहते हैं!"

बुद्धिजीवी अपनी परम्परा के अनुसार सभी दलों की संयुक्त सरकार के प्रस्ताव के आधार पर इस प्रश्न को समझौते से हल करना चाहते थे। उन्हें यह मुँहतोड़ उत्तर मिला, "केवल एक ही सहमिलन सम्भव है – मज़दूरों, सैनिकों और किसानों की संयुक्त सरकार।"

मार्तोव ने "आसन्न गृह-युद्ध को टालने के ख़याल से समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान" की अपील की। इस सुझाव के उत्तर में यह नारा गूँज उठा, "विजय! विजय! – एकमात्र सम्भावित हल है – क्रान्ति की विजय!"

अफ़सर कूचिन ने इस विचार को प्रस्तुत कर उन्हें आतंकित करने की कोशिश की कि सोवियतें अलग-थलग पड़ गयी हैं और पूरी सेना इनके ख़िलाफ़ है। सैनिक ग़ुस्से से चिल्ला उठे, "तुम झूठे हो! तुम फ़ौजी हाई कमान की ओर से बोल रहे हो, खाइयों में पड़े सैनिकों की ओर से नहीं! हम सैनिकों की माँग है: "सारी सत्ता सोवियतों को!"

उनका संकल्प इस्पात के समान दृढ़ था। अनुनय-विनय से न तो यह झुक सकता था, न धमकियों से टूट ही सकता था।

अन्त में अब्रामोविच ने अंगारा बनते हुए चिल्लाकर कहा, "हम यहाँ मौजूद रहकर इन अपराधों के लिए ज़िम्मेदार नहीं होना चाहते। हम सभी प्रतिनिधियों से इस कांग्रेस से अलग हो जाने का अनुरोध करते हैं।" बड़ी ही नाटकीय भाव-भंगिमा के साथ वह मंच से नीचे आया और दरवाज़े की ओर लपका। क़रीब अस्सी प्रतिनिधि अपने स्थानों से उठकर उसके पीछे-पीछे चल दिये।

त्रात्स्की ने ऊँचे स्वर में कहा, "उन्हें जाने दो, जाने दो! वे बिल्कुल कूड़े-करकट के समान हैं और इतिहास के कचरे के ढेर में चले जायेंगे।"

ताने-बोलियों, उपहास और व्यंग्य-बाणों – "भगोड़े! ग़द्दार!" – के बीच बुद्धिजीवी सभाकक्ष से बाहर चले गये और क्रान्ति से अलग हो गये। यह एक बहुत ही दुःखद घटना थी। बुद्धिजीवियों ने जिस क्रान्ति को जन्म देने में सहायता की, अब उन्होंने उसी से मुँह मोड़ लिया था, संघर्ष के कठिनतम क्षण में जनता से नाता तोड़ लिया था! यह सबसे बड़ी मूर्खता भी थी। वे सोवियतों को विलग नहीं कर सके, उन्होंने ख़ुद अपने को अलग कर लिया था। सोवियतों को जन-समुदाय का अपार ठोस समर्थन प्राप्त होता जा रहा था।

सोवियतों को सरकार घोषित किया गया

हर पल क्रान्ति की विजय की ताज़ा सूचनाएँ मिल रही थीं – मन्त्रियों की गिरफ़्तारी, राजकीय बैंक, तारघर, टेलीफ़ोन-केन्द्र और फ़ौजी हाई कमान के सदर-मुक़ाम पर क़ब्ज़े की ख़बरें मिल रही थीं। एक के बाद एक सत्ता के केन्द्र लोगों के क़ब्ज़े में आते जा रहे थे। पुरानी सरकार की नाममात्र की सत्ता विद्रोहियों के हथौड़ों की चोट से खण्ड-खण्ड होकर गिर रही थी।

एक कमिसार ने, जो घोड़े की तेज़ सवारी के कारण हाँफ रहा था और जिसके कपड़ों पर कीचड़ के छींटे पड़े हुए थे, मंच पर चढ़कर यह सूचना दी, "त्सास्कोये सेलो की गढ़-सेना सोवियतों के पक्ष में है। वह पेत्रोग्राद के सहद्वारों की रक्षा के लिए मुस्तैद खड़ी है!" दूसरे कमिसार से यह सूचना मिली, "साइकिल सवार सैनिकों की बटालियन सोवियतों के साथ है। एक भी सैनिक अपने भाइयों का ख़ून बहाने को इच्छुक नहीं है।" इसके बाद क्रिलेन्को हाथ में तार लिये, लड़खड़ाते हुए मंच पर चढ़ा और बोला, "बारहवीं सेना की ओर से सोवियत का अभिवादन! सैनिक समिति उत्तरी मोर्चे की कमान अपने हाथ में ले रही है।"

अन्ततः इस कोलाहलपूर्ण रात की समाप्ति पर वाद-विवाद और संकल्पों के टकराव के बाद यह स्पष्ट एवं सुगम घोषणापत्र स्वीकृत हुआ:

"अस्थायी सरकार अपदस्थ कर दी गयी। मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के भारी बहुमत की आकांक्षा के अनुकूल सोवियतों की यह कांग्रेस सत्ता ग्रहण कर रही है। सोवियत सरकार तत्काल सभी राष्ट्रों के सम्मुख जनतांत्रिक शान्ति और सभी मोर्चों पर तत्काल विराम-सन्धि का प्रस्ताव रखेगी। यह बिना किसी मुआवज़े के ज़मीनों का हस्तान्तरण सुनिश्चित करेगी..." आदि।

ख़ुशी का पारावार न रहा! एक-दूसरे को बाँहों में लिये लोगों की आँखों से ख़ुशी के आँसू छलक रहे थे। सन्देशवाहक तेज़ी से सूचनाएँ पहुँचाने के लिए रवाना हो गये थे। तार-टेलीफ़ोन लगातार काम कर रहे थे। लड़ाई के मोर्चों की ओर मोटरगाड़ियाँ तेज़ी से भागी जा रही थीं। नदियों और मैदानों को पार करते हुए विमान द्रुत गति से उड़ते चले जा रहे थे। रेडियो से समुद्रों के पार सूचनाएँ पहुँच रही थीं। सभी साधनों से इस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संवाद को प्रेषित किया जा रहा था।

क्रान्तिकारी जन-समुदाय के संकल्प की विजय हुई थी। सोवियतों ने सरकार का रूप ले लिया था।

सुबह 6 बजे ऐतिहासिक अधिवेशन समाप्त हुआ। प्रतिनिधिगण थकावट से चूर थे, रातभर जगने के कारण उनकी आँखें धँसी हुई थीं। फिर भी वे बहुत ख़ुश थे और पत्थर की सीढ़ियों और दरवाज़ों को लाँघते हुए स्मोल्नी के बाहर निकल रहे थे। बाहर अभी अँधेरा और बड़ी सर्दी थी, मगर पूर्व में लाल पौ फट रही थी।

कल और आज

मक्सिम गोर्की

बीता कल महान झूठ का दिन था – उसकी सत्ता का अन्तिम दिन।

युगों-युगों से इन्सान मकड़ी की तरह, यत्नपूर्वक, तार-दर-तार, पूरी सावधानी से सांसारिक जीवन का मज़बूत मकड़जाल बुनता गया, और झूठ व लालच से इसके पोर-पोर को अधिकाधिक सिक्त करता गया। इन्सान अपने सगे-सहोदर इन्सानों के रक्त-मांस पर पलता रहा। उत्पादन के साधन इन्सानों के दमन का साधन थे – इस मानवद्वेषी झूठ को निर्विकल्प, निर्विवाद सत्य समझा जाता रहा।

और कल यह रास्ता मानवजाति को विश्वयुद्ध के पागलपन तक ले गया। इस दुःस्वप्न की लाल दमक में इस पुरातन झूठ की घिनौनी नग्नता बेनक़ाब हो गयी। अब हम ध्वस्त हो चुकी पुरानी दुनिया को देख सकते हैं। इसके पुराने रहस्य उघड़ चुके हैं और आज अन्धों तक की आँखें खुल गयी हैं और वे अतीत की अवर्णनीय कुरूपता को देख रहे हैं।

आज उस झूठ का हिसाब लगाने का दिन है जो कल राज कर रहा था।

जनता के सब्र के उग्र विस्फोट ने जीवन के जीर्ण-शीर्ण निज़ाम को ध्वस्त कर दिया है और अब वह अपने पुराने रूप में दुबारा कभी स्थापित नहीं हो सकता। पुराने जीर्ण-शीर्ण अतीत का पूरी तरह नाश नहीं हुआ है, लेकिन आने वाले कल में यह हो जायेगा।

आज काफ़ी ख़ौफ़ छाया हुआ है लेकिन यह स्वाभाविक है और इसे समझा जा सकता है। क्या यह स्वाभाविक नहीं है कि पुरानी व्यवस्था के तेज़ ज़हर – शराब और सिफ़लिस – से ग्रस्त लोग उदार नहीं हो सकते? क्या यह स्वाभाविक नहीं कि लोग आज भी चोरी करेंगे – अगर चोरी ही कल का बुनियादी नियम रही है? क्या यह स्वाभाविक नहीं है कि दसियों, सैकड़ों, हज़ारों लोग मारे जायेंगे, अगर वे बरसों से दसियों लाख की तादाद में मारे जाने के आदी हो गये हैं? आज का बोया बीज कल की फ़सल बनता है।

हमें समझना चाहिए कि आज की गर्द और कीचड़ और अव्यवस्था के बीच अतीत के मज़बूत, लौह जाल से मानवजाति की मुक्ति का महान कार्य शुरू हो चुका है। यह बच्चे के प्रसव जितना ही कठिन और पीड़ादायक है; लेकिन यह कल की बुराई की मृत्यु है, जो कल के मानव के साथ अपनी अन्तिम साँसें ले रही है।

ऐसा इसलिए हुआ है क्योंकि न्याय की जीत की निर्णायक लड़ाई में आगे बढ़ रहे लोगों का नेतृत्व सबसे कम अनुभवी और सबसे कमज़ोर योद्धा, यानी रूसी मेहनतकश, कर रहे हैं – एक पिछड़े देश के लोग, दूसरे किसी भी देश के मुक़ाबले अपने अतीत की मार से बहुत अधिक जर्जर। अभी कल तक सारी दुनिया उन्हें अर्द्धबर्बर के रूप में देखती थी, और आज प्रायः भूख से मरते हुए वे पुराने और अनुभवी सैनिकों के पूरे जोशो-ख़रोश और साहस से जीत या मृत्यु की ओर आगे बढ़ रहे हैं।

हर उस आदमी को जो सच्चे मन से यक़ीन करता है कि स्वतन्त्रता, सुन्दरता और तर्कसंगत जीवन जीने की मानवजाति की आकांक्षा बेकार का सपना नहीं, बल्कि वह असली ताक़त है जो जीवन के नये-नये रूपों का सृजन कर सकती है, एक ऐसा उत्तोलक है जो पूरी दुनिया को उठा सकता है – ऐसे हर ईमानदार आदमी को आज रूस के उत्कट क्रान्तिकारियों द्वारा की जा रही गतिविधियों के सार्वत्रिक महत्व को स्वीकारना ही चाहिए।

क्रान्ति की व्याख्या मानवजाति के शिक्षकों द्वारा प्रणीत और प्रतिपादित महान विचारों और धारणाओं को जीवन में समाहित करने की दिशा में किये गये एक महान प्रयास के रूप में की जानी चाहिए। कल तक यूरोप के समाजवादी विचार रूसी जनता का मार्गदर्शन करते थे; आज रूस का मेहनतकश यूरोपीय विचारों की विजय के लिए उत्कट प्रयास कर रहा है।

अगर दुश्मनों से घिरे, भूख से निढाल, और संख्या में कम, ईमानदार रूसी क्रान्तिकारी पराजित हो जाते हैं तो इस भीषण विपदा की ज़िम्मेदारी यूरोप के पूरे मेहनतकश वर्ग के कन्धों पर भारी पड़ेगी।

रूसी मज़दूर को यक़ीन है कि उसके आत्मिक भाई-बन्धु रूसी क्रान्ति का गला घोंटने की इजाज़त नहीं देंगे, कि वे उस पुरानी व्यवस्था को नया जीवनदान दिये जाने की इजाज़त नहीं देंगे जो मर रही है, और जो तिरोहित हो जायेगी – बशर्ते कि यूरोप का क्रान्तिकारी विचार आज के महती कार्यभारों को समझे।

आइये और हमारे साथ नये जीवन की तरफ़ प्रयाण कीजिये, जिसे सिरजने का काम हम कर रहे हैं, और इसके लिए न ख़ुद को रत्तीभर छूट दे रहे हैं और न ही किसी व्यक्ति या किसी चीज़ के साथ ढिलाई बरत रहे हैं। श्रम के महान आनन्द और प्रगति की ज्वलन्त कामना में चूकें करते, यातनाएँ सहते, अपने कार्यों की ईमानदार विवेचना का काम हम इतिहास पर छोड़ते हैं। पुरानी व्यवस्था के ख़िलाफ़ संघर्ष में और नयी व्यवस्था लाने के हमारे उद्यम में हमारा साथ दें। मुक्त और सुन्दर जीवन की ओर आगे बढ़ें!

(क्रान्ति के तुरन्त बाद लिखा गया)

दो क़िस्से — कविता कृष्णपल्लवी

दाढ़ीजार!

भोजपुरी क्षेत्र के लोग 'दाढ़ीजार' शब्द से भली-भाँति परिचित होंगे। गाँवों में स्त्रियाँ जब किसी पुरुष से बहुत नाराज़ होती हैं तो उसे 'दाढ़ीजार' कहकर गरियाती हैं। दाढ़ीजार मतलब जिसकी दाढ़ी जला दी गयी हो, या जिसके कुकर्म ऐसे हों कि उसकी दाढ़ी में आग लगा दी जाये। इसी गाली का 'एक्सटेंशन' है,'दहिजरा के पूत'! यानी जिसके बाप की दाढ़ी जला दी गयी हो।

दाढ़ीजार का समानार्थक एक और शब्द है, 'मुँहझौंसा' यानी जिसका मुँह झुलस (भोजपुरी में 'झँउस') दिया गया हो।

चलिए, अब आपको 'दाढ़ीजार' शब्द की उत्पत्ति का क़िस्सा सुनाते हैं।

किसी गाँव में एक बेहद लम्पट-निखट्टू क़िस्म का व्यक्ति रहता था। परायी स्त्रियों पर कुदृष्टि रखता था, दिन में उठाईगीरी करता था और रात में सेंधमारी। गाँव वालों ने कई बार उसे दुराचार की कोशिश करते हुए या चोरी-उठाईगीरी करते हुए रंगे हाथों पकड़ा था और ख़ूब कुटम्मस भी की थी। फिर उसे यह आख़िरी चेतावनी दी गयी कि अगर वह अपनी आदतों से बाज़ नहीं आयेगा तो उसे गाँव से निकाल दिया जायेगा।

चिन्तित होकर उस चोर-लम्पट ने सोचा कि अब क्या करें। अगले दिन लोगों ने पाया कि वह गाँव से ख़ुद ही ग़ायब हो गया है। पूरे दो साल बाद वह दाढ़ी और जटा-जूट बढ़ाये हुए, गेरुआ वस्त्र पहने, चिमटा-कमण्डल लिए गाँव में वापस लौटा। पूरे गाँव में शोर मच गया और लोग उसे देखने के लिए इकट्ठा हो गये। उस व्यक्ति ने लोगों को बताया कि सपने में आकर देवाधिदेव महादेव ने उसे संन्यास लेने और हिमालय में जाकर तपस्या करने का निर्देश दिया था और कहा था कि, "मेरा जन्म जन-कल्याण के लिए हुआ है, अतः मुझे अपनी भटकन से मुक्ति पाकर सन्मार्ग पर आना होगा, तपस्या करके सारे पाप धोने होंगे और फिर संन्यासी बनकर लोगों की सेवा करनी होगी, उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखाना होगा!"

भोले-भाले गाँव वालों ने उसके कहने पर सहज ही विश्वास कर लिया। गाँव के तालाब के पास आश्रम बनाकर उस आदमी ने अपना आसन जमाया। कभी वह पूजा-पाठ करता दीखता था तो कभी मोरों और बत्तखों को चारा चुगाते हुए। हर शनिवार को रात आठ बजे उसका विशेष प्रवचन होता था, जिसे सुनने दूर-दूर से लोग आते थे।

कुछ ही दिनों में 8-10 और संन्यासी उसके आश्रम में आ गये। अपना परिचय उन्होंने हरिद्वार से आये 'स्वामीजी' के शिष्यों के रूप में दिया। आश्रम में आसपास के गाँवों से भी काफ़ी चढ़ावा आने लगा। लेकिन लोगों ने ग़ौर किया कि इधर रात-बिरात राहज़नी और सेंधमारी की घटनाएँ भी लगातार बढ़ती जा रही थीं। फिर एक दिन विस्फोट हुआ। गाँव की एक स्त्री ने बताया कि आश्रम में इलाज या पुत्र-प्राप्ति के अनुष्ठान के लिए जिन स्त्रियों को कुछ दिनों के लिए रोका जाता है, रात में उन्हें दवा के नाम पर नशीली चीज़ खिलाकर उनके साथ दुराचार किया जाता है। भेद इसलिए खुला कि उस स्त्री ने कुछ शक हो जाने के कारण दवा नहीं खायी थी और ऐन मौक़े पर ख़ुद को छुड़ाकर वहाँ से भाग निकली थी। फिर क्या था। गाँव वालों ने उस लम्पट को चेलों सहित दौड़ाकर पकड़ा और गाँव के चौपाल में लाकर रस्सों से बाँधकर ख़ूब सेवा की। तब यह भी भेद खुला कि आसपास जितनी भी चोरी-राहज़नी हो रही थी, उसमें भी इसी गिरोह का हाथ था।

फिर गाँव की स्त्रियों ने इकट्ठा होकर उस लम्पट-चोर और उसके चेलों की दाढ़ी में आग लगा दी। उसके बाद गधों पर बैठाकर जुलूस निकालने के बाद पूरी मण्डली को इलाक़े से खदेड़ दिया गया।

तभी से 'दाढ़ीजार' शब्द गाँव में चोरों-लम्पटों के लिए गाली के रूप में इस्तेमाल होने लगा। कालान्तर में उसका चलन बढ़ते हुए दूर-दूर तक फ़ैल गया।

कहानी से शिक्षा – अगर कोई चोर-लम्पट-ठग-बटमार दाढ़ी बढ़ाकर संन्यासी जैसा भेस-बाना बनाकर लोगों की आँख में धूल झोंके तो लोगों को उसकी दाढ़ी में आग लगा देनी चाहिए और उसे इलाक़े से खदेड़ देना चाहिए।

(इस कहानी में आज के राजनीतिक परिदृश्य और किसी भी राजनीतिक व्यक्ति का रूपक नहीं प्रस्तुत किया गया है। इसलिए कृपया बात का बतंगड़ न करें। किसी भी जीवित व्यक्ति से इसका मेल महज़ एक संयोग है!)

कबीरदास संकट में!!

ख़ास ख़बर। ख़ास ख़बर।!

अभी-अभी यह ख़बर सत्ता के गलियारों से छनकर बाहर आयी है कि कबीरदास के ख़िलाफ़ केन्द्र सरकार के गृह मंत्रालय की ओर से तथा लखनऊ स्थित मुख्यमंत्री कार्यालय की ओर से दो 'कारण बताओ' नोटिस जारी हुए हैं।

दोनों नोटिस कबीरदास के एक ही पद को लेकर हैं। लखनऊ से जारी नोटिस में कबीरदास से इस बात की सफ़ाई माँगी गयी है कि उन्होंने अपने एक पद की पहली पंक्ति के द्वारा उ.प्र. के मुख्य मंत्री योगी आदित्यनाथ की अवमानना की है, अतः उनके ख़िलाफ़ क्यों न उ.प्र. के मुख्यमंत्री की मानहानि करने, अराजकता फैलाने और राजद्रोह की धाराओं में मुक़दमा दर्ज किया जाये। वह विवादास्पद पंक्ति है – 'मन न रँगाए, रँगाए जोगी कपरा।'

राज्य के मुख्य अधिवक्ता का कहना है कि यह प्रथम दृष्टया योगी आदित्यनाथ के अपमान का और जनता में उनके प्रति अविश्वास पैदा करके अराजकता फैलाने का मामला लगता है क्योंकि इसमें माननीय योगीजी को सीधे-सीधे ढोंगी कहा गया है। मुख्यमंत्री कार्यालय से यह जानकारी मिली कि 'कारण बताओ नोटिस' की एक-एक प्रति कबीरचौरा, वाराणसी और मगहर के पते पर एक सप्ताह पहले ही भेज दी गयी थी। अगर दस दिनों के भीतर कबीरदास का उत्तर नहीं मिल जाता तो उनके लिए 'लुकआउट नोटिस' भी जारी कर दी जायेगी और उन्हें ढूँढ़कर हिरासत में लेने के लिए नवगठित एस.एस.एफ़. की एक-एक बटालियन वाराणसी और मगहर रवाना कर दी जायेंगी।

केन्द्र सरकार के गृह मंत्रालय की ओर से जारी नोटिस में उसी पद की एक दूसरी पंक्ति के बारे में कबीरदास से स्पष्टीकरण माँगा गया है। वह पंक्ति है: "दढ़िया बढ़ाय जोगी बन गइलें बकरा।" नोटिस में कबीरदास से पूछा गया है कि क्यों न माना जाये कि यह पंक्ति लिखकर उन्होंने माननीय प्रधानमंत्री की बढ़ती हुई दाढ़ी पर तंज़ किया है और बकरा कहकर उनकी मानहानि की है।

अब केन्द्र और राज्य – दोनों ही सरकारों को कबीरदास के जवाब की प्रतीक्षा है, लेकिन अभी तो उनका कुछ अता-पता ही नहीं है। देखिए क्या होता है।

केदारनाथ अग्रवाल की तीन छोटी कविताएँ

जो जीवन की धूल चाट कर बड़ा हुआ है
तूफ़ानों से लड़ा और फिर खड़ा हुआ है
जिसने सोने को खोदा लोहा मोड़ा है
जो रवि के रथ का घोड़ा है
वह जन मारे नहीं मरेगा
नहीं मरेगा

जो जीवन की आग जला कर आग बना है
फौलादी पंजे फैलाए नाग बना है
जिसने शोषण को तोड़ा शासन मोड़ा है
जो युग के रथ का घोड़ा है
वह जन मारे नहीं मरेगा
नहीं मरेगा

●

मिल मालिक का बड़ा पेट है
बड़े पेट में बड़ी भूख है
बड़ी भूख में बड़ा जोर है
बड़े जोर में जुलुम घोर है

मिल मालिक का बड़ा पेट है
अत्याचारी नीति धारता
शोषण का कटु दाँव मारता
गला-काट पंजा पसारता

मिल मालिक का बड़ा पेट है
मजदूरों को नहीं छोड़ता
उन्हें चूसकर तोष तोलता
एकाकी ही स्वर्ग भोगता।

●

आज मरा फिर एक आदमी!
राम राज का एक आदमी!!
बिना नाम का
बिना धाम का
बिना बाम का
बिना काम का
मुई खाल का
धँसे गाल का
फटे हाल का
बिना काल का
अंग उघारे
हाथ पसारे
बिना बिचारे
राह किनारे!

आज मरा फिर एक आदमी!
राम राज का एक आदमी!!
हवा न डोली
धरा न डोली
खगी न बोली
दुख की बोली
ठगी, ठठोली
काम किलोली
होती होली
है अनमोली
वही पुरानी
राम कहानी
पीकर पानी
कहतीं नानी
आज मरा फिर एक आदमी!
राम राज का एक आदमी!!

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

उत्तर प्रदेश में बिजली के निजीकरण पर आमादा सरकार

आन्दोलन के दबाव में सरकार एक क़दम पीछे हटी, लेकिन यह सन्तुष्ट होने का समय नहीं है!

– आनन्द सिंह

उत्तर प्रदेश के बिजली कर्मचारियों की जुझारू एकजुटता के आगे आख़िरकार योगी सरकार को झुकना पड़ा। गत 6 अक्टूबर को विद्युत कर्मचारी संघर्ष समिति के साथ हुए समझौते में प्रदेश सरकार को पूर्वांचल विद्युत वितरण निगम लिमिटेड का निजीकरण करने की अपनी योजना को तीन महीने के लिए टालने मजबूर होना पड़ा। निश्चित रूप से यह प्रदेश के 15 लाख कर्मचारियों की एकजुटता की शानदार जीत है। लेकिन इस जीत से संतुष्ट होकर सरकार पर दबाव कम करने से बिजली के वितरण प्रक्रिया का निजीकरण करके निजी वितरण कम्पनियों को मुनाफ़े की सौग़ात देने के मंसूबे को पूरा करने में कामयाब हो जायेगी। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि सरकार ने निजीकरण की योजना को रद्द नहीं किया गया, बस टाला है और वह भी महज़ तीन महीने के लिए। इन तीन महीनों के दौरान पूर्वांचल विद्युत वितरण निगम लिमिटेड को कहा गया है कि वह अपने घाटे को कम करे और तीन महीने बाद सरकार उसकी समीक्षा करने के बाद आगे का रास्ता तय करेगी। स्पष्ट है कि सरकार ने फ़िलहाल बिजली कर्मचारियों के आक्रोश पर ठण्डा पानी डालते हुए भविष्य में निगम द्वारा घाटा कम न कर पाने का तर्क देते हुए उसको निजी हाथों में सौंपने की पूर्वपीठिका तैयार कर ली है।

ग़ौरतलब है कि उत्तर प्रदेश में बिजली के वितरण का काम पाँच निगमों के ज़रिये होता है – पश्चिमांचल विद्युत वितरण निगम, कानपुर विद्युत आपूर्ति कम्पनी, दक्षिणांचल विद्युत वितरण निगम, मध्यांचल विद्युत वितरण निगम और पूर्वांचल विद्युत वितरण निगम। इनमें से पहली दो ही ऐसे हैं जो घाटे में नहीं हैं। ये वितरण कम्पनियाँ वर्ष 2000 में उत्तर प्रदेश राज्य विद्युत परिषद को भंग करके बनायी गयी थीं। उस समय इन निगमों को बनाने का मक़सद भविष्य में इनको निजी हाथों में सौंपने की तैयारी करना ही था।

इसी प्रकार विद्युत अधिनियम (इलेक्ट्रिसिटी एक्ट) 2003 भी देशभर में बिजली के निजीकरण की प्रक्रिया में तेज़ी लाने के लिए उसका फ्रेमवर्क बनाने के मक़सद संसद द्वारा पारित किया गया था। इस विधेयक में राज्य के विद्युत बोर्डों को भंग करके विद्युत उत्पादन, विद्युत ट्रांसमिशन और विद्युत वितरण तीन हिस्सों में विभाजित करने का प्रावधान था। इन प्रावधानों ने बिजली के क्षेत्र में निजी कम्पनियों के प्रवेश का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार बिजली जो आधुनिक युग में किसी देश के विकास की आधारशिला है, उसे साबुन, तेल और मंजन जैसे माल में तब्दील कर दिया गया। ग़ौरतलब है कि इस प्रक्रिया में निजी कम्पनियों ने केवल वहीं प्रवेश किया जहाँ मुनाफ़ा कमाने के पर्याप्त अवसर थे। घाटे वाले क्षेत्रों को राज्यों के निगमों के हवाले कर दिया गया। विद्युत उत्पादन के क्षेत्र में निजी कम्पनियों के प्रवेश से विद्युत उत्पादन की क़ीमतें बढ़ती गयीं और राज्यों के विद्युत वितरण निगमों का घाटा भी बढ़ता गया। 1992-93 में राज्य विद्युत बोर्डों का कुल घाटा 2,725 करोड़ रुपये था जो 2002-03 में नौ गुना बढ़कर 24,837 करोड़ रुपये हो गया। आज राज्यों के वितरण निगमों का कुल घाटा 3.8 लाख करोड़ तक जा पहुँचा है। उत्तर प्रदेश की बात करें तो 2000 में वितरण निगमों के बनने से पहले उत्तर प्रदेश राज्य विद्युत परिषद का कुल घाटा मात्र 77 करोड़ था जबकि आज वितरण निगमों का कुल घाटा 95,000 करोड़ जा पहुँचा है। इसी घाटे को आधार बनाकर अब इन निगमों के निजीकरण की क़वायद की जा रही है जबकि सच्चाई यह है कि इस घाटे की मुख्य कारण विद्युत उत्पादन कम्पनियों द्वारा वितरण निगमों को अधिक दरों पर बिजली बेचना, सरकार द्वारा उद्योगों को रियायती क़ीमतों पर बिजली प्रदान करना और ग्रामीण व पिछड़े इलाक़ों को दी जाने वाली बिजली में सब्सिडी देना रहा है।

योगी सरकार द्वारा उत्तर प्रदेश में बिजली का निजीकरण शुरू करने की प्रक्रिया को पूरे देश में निजीकरण की प्रक्रिया तेज़ करने के नवउदारवादी मॉडल की पृष्ठभूमि में ही देखने की ज़रूरत है। ग़ौरतलब है कि जिस समय प्रदेश में योगी सरकार पूर्वांचल विद्युत वितरण निगम के निजीकरण को तीन महीने तक टाल रही थी लगभग उसी समय केन्द्र की मोदी सरकार राज्यों के लिए विद्युत वितरण निगमों को बेचने के लिए बोली लगाने सम्बन्धी मानक दस्तावेज़ का मसौदा प्रस्तुत कर रही थी। कोरोना आपदा को अवसर में तब्दील करते हुए केन्द्र सरकार ने केन्द्र शासित प्रदेशों के विद्युत वितरण निगमों को निजी हाथों में सौंपने की तैयारी कर ली। यहाँ तक कि जम्मू व कश्मीर एवं लद्दाख में विद्युत वितरण का निजीकरण की तैयारी की जा रही है जो अभी एक साल पहले तक एक राज्य का हिस्सा थे। इसके अलावा कोरोना काल में ही केन्द्र सरकार ने विद्युत अधिनियम 2003 में संशोधन करके निजीकरण की रफ़्तार तेज़ करने की मंशा से विद्युत अधिनियम 2020 का मसौदा प्रस्तुत किया। अब विद्युत वितरण को भी दो हिस्सों में बाँटने की योजना है – पहला सबस्टेशनों पर उपकरणों को लगाने व उनके रखरखाव तथा मरम्मत सम्बन्धी काम और दूसरा विद्युत उपभोक्ताओं का मीटर लगाना, बिलिंग और भुगतान सम्बन्धी काम। इनमें से दूसरा हिस्से में ही मुनाफ़ा ज़्यादा है इसलिए निजी वितरण कम्पनियों की निगाह उसी पर गड़ी है।

बिजली वितरण का निजीकरण तेज़ करने के पीछे केन्द्र व राज्य सरकारों का तर्क यह रहता है कि इससे बिजली विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार में कमी आएगी, बिजली कटौती कम होगी और उपभोक्ताओं को सस्ते दर पर बिजली मिलेगी। लेकिन जिन जगहों पर अभी तक निजीकरण का प्रयोग किया गया है वहाँ के अनुभव इसके उलट रहे हैं। दिल्ली उड़ीसा, आगरा, ग्रेटर नोएडा, औरंगाबाद, नागपुर, जलगाँव, उज्जैन, ग्वालियर, भागलपुर और मुज़फ़्फ़रपुर जैसी जगहों पर बिजली वितरण के जो प्रयोग रहे वे विफल ही साबित हुए हैं। दिल्ली में अम्बानी व टाटा की विद्युत वितरण कम्पनियों ने उपभोक्ताओं को 8000 करोड़ रुपये की चपत लगायी जिसका उल्लेख कम्पट्रोलर एवं ऑडिटर जनरल (सीएजी) की रिपोर्ट में किया गया था। लेकिन इस घोटाले को उजागर करने वाली उस रिपोर्ट को दबा दिया गया। उड़ीसा में बिजली निजीकरण का प्रयोग इतना फिसड्डी साबित हुआ कि वहाँ सरकार को बिजली वितरण का काम फिर से सरकारी निगम को सौंपना पड़ा। बॉक्स में आगरा में विद्युत वितरण के निजीकरण का नतीजों का उल्लेख किया गया है। कमोबेश ऐसी ही हालत हर उस शहर में देखने में आ रही है जहाँ विद्युत वितरण के निजीकरण के प्रयोग किये गये हैं। निजीकरण की मार उपभोक्ताओं तो पड़ेगी ही, साथ ही साथ बिजली कर्मचारियों के जीवन पर भी इसका सीधा असर पड़ेगा। विद्युत वितरण निगमों के कर्मचारियों को अभी तक जो वेतन, भत्ते, पीएफ़ सहित जो सेवा शर्तें व सामाजिक सुरक्षा प्राप्त थी, निजीकरण के बाद उनमें भारी कटौती होगी।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि बिजली के निजीकरण से न तो उपभोक्ताओं से कोई लाभ है और न ही कर्मचारियों को। इसके बावजूद अगर केन्द्र व राज्य सरकारें निजीकरण की रफ़्तार तेज़ करने पर आमादा हैं तो यह सिर्फ़ इसलिए कि वे आज जनता के हितों की नहीं बल्कि मुट्ठी भर कॉरपोरेट घरानों के हितों की नुमाइन्दगी करती हैं। विश्वव्यापी मन्दी के दौर में ये कॉरपोरेट घराने अपने मुनाफ़े की दर में गिरावट को कम करने के लिए अपनी गिद्ध-दृष्टि सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रमों पर गड़ाये हुए हैं। यही वजह है कि महामारी के दौर में भी मोदी सरकार बिजली ही नहीं, रेलवे, बीमा, दूरसंचार आदि क्षेत्रों में भी निजीकरण की प्रक्रिया तेज़ कर रही है। इस परिदृश्य में उत्तर प्रदेश के बिजली कर्मचारियों को यह समझना होगा कि योगी सरकार ने अगर तीन महीने के लिए पूर्वांचल विद्युत वितरण निगम के निजीकरण की योजना टाली है तो इससे बहुत आश्वस्त होने की ज़रूरत नहीं है। आने वाले दिनों में निजीकरण की रफ़्तार और तेज़ किया जाना तय है जिसका ख़ामियाज़ा आम जनता और सरकारी कर्मचारियों को चुकाना पड़ेगा। आम जनजीवन पर पूँजी के इस हमले का मुक़ाबला केवल लोगों की जुझारू एकजुटता से ही किया जा सकता है। निजीकरण के ख़िलाफ़ एक जुझारू जनान्दोलन खड़ा करके ही पूँजी के हमले से बचा जा सकता है। इस आन्दोलन से सार्वजनिक क्षेत्र के सभी उपक्रमों के कर्मचारियों और आम लोगों को भी जोड़ने की ज़रूरत है।

(इस रिपोर्ट के बहुत-से तथ्य श्री अमित कुमार के लेख से साभार लिये गये हैं)

आगरा में विद्युत वितरण के निजीकरण का अनुभव

उत्तर प्रदेश में मई 2009 में तत्कालीन मायावती सरकार के कार्यकाल में कानपुर और आगरा में बिजली के वितरण के निजीकरण का निर्णय लिया गया था। बिजली कर्मचारियों के विरोध के चलते कानपुर की बिजली वितरण की व्यवस्था निजी हाथों में नहीं सौंपी जा सकी। लेकिन आगरा में यह व्यवस्था लागू कर दी गयी।

अप्रैल 2010 में प्रदेश सरकार ने आगरा में बिजली वितरण के लिए टोरेण्ट पावर नामक कम्पनी के साथ क़रार किया गया कि 31 मार्च 2017 तक लाइन लॉस 15 प्रतिशत तक करना होगा। लेकिन टोरेण्ट कम्पनी इस पर बिल्कुल खरी नहीं उतरी। क़रार में यह प्रावधान भी था कि बिजली विभाग पर उपभोक्ताओं से बक़ाया वसूल कर विभाग को वापस करना होगा। बक़ाया वसूल करना तो दूर 31 अक्टूबर 2016 तक बक़ाया बढ़कर लगभग 2,137 करोड़ हो गया और वर्तमान में यह 2,500 करोड़ रुपये के ऊपर है। इसमें से केवल नाममात्र का विभाग को लौटाया गया है, यानी विद्युत निगम को इसमे कोई फ़ायदा नहीं हुआ।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि टोरेण्ट पावर को बेहद कम रेट पर बिजली दी जा रही है। विद्युत कर्मचारियों के संगठनों का कहना है कि दक्षिणांचल विद्युत वितरण निगम 5.26 रुपये/यूनिट की दर पर ख़रीद कर टोरेण्ट पावर आगरा को 4.45 रुपये/यूनिट की दर पर बेच रहा है। इससे निगम को हर साल 162 करोड़ रुपये का नुक़सान हो रहा है। इसका ख़ामियाज़ा बिजली उपभोक्ताओं को महँगी बिजली के रूप में भुगतना पड़ रहा है।

पिछले वर्ष तक के आँकड़ों पर ध्यान दिया जाये तो हालात यह है कि आगरा की फ्रेंचाइज़ी टोरेण्ट पावर से ज़्यादा राजस्व निगम को कानपुर से मिल रहा था। टोरेण्ट कम्पनी आगरा में पावर कॉरपोरेशन को 3.25 रुपये प्रति यूनिट की दर से भुगतान कर रही थी। जबकि कानपुर में पावर कॉरपोरेशन को लगभग 6.25 रुपये प्रति यूनिट राजस्व मिल रहा था। यानी निजीकरण से जनता को दो तरफ़ा नुक़सान हो रहा है। एक तो भ्रष्टाचार का सहारा लेकर टोरेंरेंट कम्पनी सरकार से महँगी बिजली सस्ते में ख़रीद रही है और उसी बिजली को महँगे दाम में उपभोक्ताओं को बेच रही है।

यही नहीं आगरा में विद्युत उपभोक्ता भी टोरेण्ट से बहुत परेशान हैं। उपभोक्ताओं के मीटर बेतहाशा तेज़ चलने, बिल वसूली के लिए गुण्डों व बाउन्सरों के जरिए डराने-धमकाने और ग़रीब बस्तियों में कई-कई घण्टे तक जानबूझ कर बिजली कटौती करने जैसी शिकायतें बार-बार सामने आ रही हैं। आगरा में कई बार दक्षिणांचल और टोरेण्ट के दफ़्तरों पर तालाबन्दी और घेराव जैसे प्रदर्शन हुए। 2017 के विधानसभा चुनाव से पहले टोरेण्ट पावर के ख़िलाफ़ ख़ूब प्रदर्शन हुए थे। भारतीय जनता पार्टी के नेताओं ने भी सड़क पर उतरकर टोरेण्ट के ख़िलाफ़ ख़ूब नारे लगाए थे और भाजपा के बड़े नेताओं ने सरकार बनने के बाद टोरेण्ट पर नकेल कसने की बात कही थी। लेकिन जैसे ही योगी सरकार 2017 में सत्ता में आयी वह सब भूल गयी और निजीकरण का दोषपूर्ण आगरा मॉडल को आज वह पूरे उत्तर प्रदेश में लागू करने पर आमादा है।

– आनन्द

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006